Visit **Dwarkadheeshvastu.com** For

FREE **Vastu Consultancy, Music, Epics, Devotional Videos**
Educational Books, Educational Videos, Wallpapers

———— **** ————

All Music is also available in **CD** format. **CD Cover** can also be print with your Firm Name

———— **** ————

We also provide this whole Music and Data in **PENDRIVE** and **EXTERNAL HARD DISK.**

Contact : Ankit Mishra (+91-8010381364, dwarkadheeshvastu@gmail.com)

AA Jhgfj% AA

blh tUe ei ijekRe ikflr

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय	कैसेट नं०	पृष्ठ-संख्या
१- इसी जन्ममें शीघ्र परमात्माकी प्राप्तिके लिये साधन	५०७ ..	.....५
२- महात्माओंके प्रभाव और रहस्य	२५१	३०
३- आत्मोद्धारके लिये अपनी बुद्धिके अनुसार साधन करना	११०	५२
४- दामी भजन-ध्यानका स्वरूप और उसका उपाय	८२	७४
५- अभिमान-त्याग निष्काम भगवदर्थ कर्म	२९	९४
६- निष्काम भावका प्रभाव तथा रहस्य	१९	११४
७- मनुष्य-जीवनकी अमोलकता	१५२	१३६

॥ श्रीहरिः ॥

इसी जन्ममें शीघ्र परमात्माकी प्राप्तिके लिये साधन

मानव-जीवन केवल भगवत्प्राप्ति (मुक्ति)-के लिये ही मिला है। इस विषयमें कोई तो कहते हैं कि इस कलियुगमें मुक्ति होनी कठिन है, कोई कहते हैं कि मुक्ति तो होती है परंतु कई जन्मोंतक साधन करते-करते होती है और कई कहते हैं कि गृहस्थाश्रममें मुक्ति नहीं होती। किंतु इस विषयमें गीता-रामायण-भागवतमें तो इनसे विलक्षण बात बतलायी गयी है। वही अपने लोगोंके लिये उत्तम है और जो लोग उपर्युक्त बात कहते हैं, उनका भी कहना अपने लिये एक प्रकारसे सहायक ही है। जो कहते हैं कि दो-चार जन्ममें मुक्ति होती है, तो उनका कहना इस अंशमें ठीक है कि जिस प्रकारसे लोग धीरे-धीरे चल रहे हैं, उसमें तो कई जन्म ही लगते हैं। इस बातको सुनकर अपने हृदयमें भगवत्प्राप्तिके लिये जोश लाना चाहिये। भगवान्‌की प्राप्तिके लिये यदि बारम्बार मनुष्यका जन्म मिलता रहे, उत्तरोत्तर भक्ति बढ़ती रहे, भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम होता रहे तो तीन जन्म लग जायँ तो कोई आपत्ति नहीं। किंतु मरनेके बाद चौरासी लाख योनियोंमें कौन-सी योनिमें जन्म लेना पड़े, इसकी अपने पास कोई गारंटी नहीं है, किसीके भी पास नहीं है। तो ऐसी जोखिममें हमलोगोंको जाना ही नहीं है जिससे भविष्यमें फिर जन्म लेना पड़े। क्योंकि मनुष्य-शरीरके बाद न मालूम कौन-सी योनिमें जन्म हो। अपनेको तो इस मनुष्य-शरीरमें इसी योनिमें इसी जन्ममें अपना काम बना लेना है, वह भी बहुत

जल्दी, क्योंकि जब ऐसे वचन सुननेमें आते हैं कि एक ही जन्ममें कल्याण होना कठिन है तो उनका कहना कोई अनुचित नहीं है। उनका कहना इस दृष्टिसे ठीक है कि हमलोगोंकी चाल धीमी है। हमलोग साधन धीरे-धीरे करते हैं। लोग हमारे धीमे साधनको देखकर ही मुक्ति होनेमें कठिनताकी बात कहते हैं। परंतु यदि अपना साधन तेज हो जाय तो एक ही जन्मके थोड़े हिस्सेमें ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

मान लो किसीको यहाँसे कलकत्ता जाना हो तो वह यदि घोड़ा-गाड़ीमें बैठकर जाय तो कई दिन लगेंगे और यदि रेलमें बैठकर जाय तो दो दिनमें या डेढ़ दिनमें ही पहुँच जाय। यदि रेल तेज चलनेवाली हो तो डेढ़ दिनमें, नहीं तो दो दिनमें पहुँच जाय और यदि वायुयानसे जाय तो आधे दिनमें ही पहुँच जाय। इसी प्रकारसे हम सबका जन्म है—इस जन्मका जो हिस्सा बाकी है, उस बाकी हिस्सेमें वायुयानकी माफिक चले तो आधे हिस्सेमें ही बेड़ा पार हो जाय और तेजीसे चले तो इतना समय भी न लगे। योगी तो क्षणमात्रमें पहुँच जाय। जैसे मन्द चालसे चलनेवाली रेल दो दिनमें और तेज चलनेवाली रेल एक दिनमें पहुँचा सकती है, इसी प्रकार तेजीसे साधन करनेपर एक जन्ममें भगवान्‌तक पहुँच सकते हैं। किन्तु अपनेको तो इसी जन्मके थोड़ेसे हिस्सेमें ही काम बनाना है। इसलिये खूब तेजीसे साधना करनी चाहिये। भावीजन्ममें भगवत्-प्राप्ति कर लेंगे ऐसी आशा रखनी ही नहीं है, क्योंकि न मालूम इसके बादमें कौन-सा जन्म मिलेगा। अपनेको तो इसी जन्ममें अपना काम बनाना है। गीता-रामायण-भागवत आदि ग्रन्थ, परमात्माकी प्राप्तिके लिये बहुत समय लगनेकी बात नहीं कहते। वे कहते हैं कि भगवान्‌की भक्ति होनेके बाद जल्दी ही बेड़ा पार हो सकता है। इसलिये

अपनेमें जो कमी है, उसकी पूर्ति करनी चाहिये और खूब तेजीके साथ चलना चाहिये। अबतक जो चाल हमलोगोंने चली है वह चाल एक प्रकारसे धीमी चाल है। इस चालकी दृष्टिसे यदि कोई आदमी कहे कि इस जन्ममें कल्याण होना मुश्किल है। उनका यह कहना भी आदर करने योग्य है। उनका कहना ठीक है। यदि तीन-चार जन्मकी बात सुन ली तो फिर अपनेको और भी बहुत तेजीसे चलना चाहिये। हमारी धीमी चालके कारण विलम्ब हो जाय तो हमारे लिये बहुत ही आफतकी बात है। यदि कोई कहते हैं कि कलियुगमें मुक्ति नहीं होती तो इसके लिये तो सभी शास्त्र हमारी मदद करते हैं कि ऐसी बात नहीं है। तुलसीदासजी कहते हैं कि—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

तात्पर्य यह कि कलियुगके समान कोई युग नहीं है। भगवान्‌के विमल विशुद्ध गुणोंका गान करनेसे मनुष्य बिना ही परिश्रम संसार-सागरसे तर जाता है। दूसरे जो यह कहते हैं कि—"गृहस्थाश्रममें कल्याण नहीं होता" तो उनकी यह बात, चाहे किसीकी भी हो, नहीं माननी चाहिये; क्योंकि हमारे प्राचीन शास्त्रोंमें जितने इतिहास मिलते हैं अधिकांशमें गृहस्थियोंके ही मिलते हैं, जितने उच्चकोटिके पुरुष हुए हैं जैसे महर्षि वेदव्यास, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ, भरद्वाज, जमदग्नि, अत्रि, कश्यप— ये सभी गृहस्थी ही थे। इसलिये यह बात जो कहते हैं कि गृहस्थ-आश्रममें मुक्ति नहीं, एकदम गलत है। सभी आश्रमोंमें, सभी वर्णोंमें परमपदकी प्राप्ति हो सकती है और स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण भी गीताके ९ वें अध्यायके ३२ वें श्लोकमें जोर देकर कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

हे पार्थ! मेरी शरण ले करके चाहे स्त्री हो, चाहे वैश्य हो, चाहे शूद्र हो, चाहे पापयोनिवाला ही क्यों न हो, वे भी परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं। भगवद्भावसे भगवान्‌की ओर चलनेसे भगवत्प्राप्ति—परमगतिकी प्राप्ति हो जाती है। अपने तो शास्त्रोंकी यह बात ही माननी चाहिये। दूसरे लोगोंकी बातोंकी तरफ अपने लोगोंको ध्यान ही नहीं देना चाहिये। कलियुगके लिये विष्णुपुराणके छठे अंशके दूसरे अध्यायमें एक बात आयी है कि एक बार जब वेदव्यासजी महाराजने कहा कि कलियुग धन्य है तब सब ऋषियोंने पूछा—महाराज! आपने कलियुगको धन्य क्यों कहा? वेदव्यासजीने कहा—मैंने कलियुगको धन्य इसलिये कहा कि कलियुग यद्यपि अवगुणोंकी खान है फिर भी भगवान्‌की भक्ति करनेसे मनुष्यका शीघ्र ही उद्धार हो जाता है। दूसरी बात यह कही कि जो मुक्ति सत्ययुगमें ध्यान करनेसे प्राप्त होती थी, तथा त्रेतामें यज्ञ करनेसे, द्वापरमें पूजा करनेसे प्राप्त होती थी वह कलियुगमें भगवान्‌के नाम-कीर्तनसे हो जाती है—इसलिये हमलोगोंको हिम्मत रखनी चाहिये, विश्वास करना चाहिये, कमजोरीको तो पासमें आने ही नहीं देनी चाहिये। ऐसी फालतू बातोंको सुन करके कभी भी निराश नहीं होना चाहिये।

भारतवर्षकी अपनी इस भूमिमें बहुत शीघ्र ही कल्याण हो सकता है। सारी दुनियामें, सारी पृथ्वीमें यह भारत-भूमि सबसे श्रेष्ठ है और फिर, जहाँ हमलोग बैठे हैं यह तो बड़ा तीर्थस्थान है। ऐसा कहा जाता है कि मथुरा त्रिलोकीसे न्यारी है ऐसी इस मथुराके इलाकेमें हम सब बैठे हैं। मथुराके इलाकेमें भी सबसे

बढ़कर यह वृन्दावन है। यहाँकी भूमि ऐसी पवित्र है कि यहाँकी रज भी मुक्ति प्रदान करनेवाली है। यह देश भी उत्तम है तथा काल भी उत्तम है। जब नीच जातिवाले भी तर जाते हैं, फिर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा स्त्रियोंकी तो बात ही क्या है। स्त्रियोंके लिये तो बहुत सुगमता बतलायी है। वेदव्यासजी महाराज विष्णुपुराणके छठे अंशके दूसरे अध्यायमें कहते हैं कि स्त्रियाँ धन्य हैं। वहाँ भी ऋषियोंने पूछा कि महाराज! आपने स्त्रियोंको धन्य कैसे कहा? व्यासजीने कहा—स्त्रियोंको धन्य इसलिये कहा कि पुरुष-वर्ग, यज्ञ, दान, तप तथा नाना प्रकारका प्रयास करके, वेदाध्ययन करके, स्वाध्याय करके, जिस पदको प्राप्त होते हैं, सुहागिनी स्त्रियाँ केवलमात्र पातिव्रत्य-धर्मका पालन करनेसे उसी सिद्धिको प्राप्त हो जाती हैं, इसलिये स्त्रियोंको धन्य कहा है। पुरुषोंको बहुत परिश्रम करके जो परमात्माकी प्राप्ति होती है—यानी जो परमगतिकी प्राप्ति होती है वह परमगति स्त्रियोंको सुगमताके साथ पातिव्रत्य-धर्मके पालनसे मिल जाती है। यही बात तुलसीदासजी कहते हैं—

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥

स्त्रीके लिये एक ही व्रत है, एक ही धर्म है, एक ही नियम है। शरीरसे पतिकी सेवा करना, उसको नित्य नमस्कार करना और वाणीसे सत्य, प्रिय, हितकर वचन बोलना तथा मनसे अपने पतिका हित-चिन्तन करना, ध्यान करना। तात्पर्य यह कि वह मनसे, वाणीसे, शरीरसे पतिके चरणोंमें प्रेम करे। क्योंकि स्त्रीके लिये शास्त्रोंमें बतलाया गया है कि पति ही तीर्थ हैं, पतिकी सेवा ही व्रत है, पति ही साक्षात् देवता और पति ही गुरु तथा पति ही मालिक और पति ही परमात्मा है। ये बातें शास्त्रोंमें

बतलायी गयी हैं। तुलसीदासजी भी साफ कहते हैं कि नारीको चाहिये कि छलका त्याग करके अपने पातिव्रत-धर्मका पालन करे। केवल पातिव्रत-धर्मका पालन करनेसे ही वह परमगतिको प्राप्त हो जाती है। गति ही नहीं परमगति, जिसे हमलोग मुक्ति कहते हैं, परमात्माकी प्राप्ति कहते हैं, परमधामकी प्राप्ति कहते हैं, वह उसे प्राप्त हो जाती है। इस बातको तुलसीदासजी महाराज, वेदव्यासजी महाराज और सभी शास्त्र कहते हैं। यह बात हमने पद्मपुराणमें भी पढ़ी, उसमें पातिव्रत-धर्मकी बड़ी महिमा कही गयी है। पातिव्रत-धर्मके प्रभावसे सुकलाके यहाँ साक्षात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश आकर दर्शन दिये, जिससे उसने मुक्ति प्राप्त कर ली। केवल भगवान्‌के दर्शनसे मुक्ति हो जाती है फिर साथमें शिवजी और ब्रह्माजी चले आये तो मुक्तिमें बाकी क्या रहा। पातिव्रत-धर्मका पालन करनेसे परमात्माके दर्शन हो सकते हैं, परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। इसलिये यह बात सभी स्त्रियों एवं पुरुषोंको समझनी चाहिये कि ईश्वरकी भक्तिसे सबकी मुक्ति हो जाती है चाहे कोई भी हो।

सुहागिनी स्त्रीके लिये तो दो अवसर मिल गये—एक पातिव्रत-धर्म और एक ईश्वरकी भक्ति। तो विधवाके लिये तो एक ही है ईश्वरकी भक्ति। ईश्वरकी भक्तिसे उसकी मुक्ति हो जाती है। यदि कहो कि ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती तो ज्ञान तो उसे स्वयं भगवान् कृपा करके देते हैं। भगवान् गीतामें कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(१०।१०)

जो प्रीतिपूर्वक मुझे भजते हैं, उनको मैं वह बुद्धि, वह ज्ञान देता हूँ जिससे मेरी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌की कृपासे

सब कुछ प्राप्त हो सकता है, चाहे कोई भी हो, स्त्री हो या पुरुष। तात्पर्य यह कि मनुष्यमात्रकी मुक्ति हो जाती है। भागवतका तो कहना है कि चाण्डालकी भी मुक्ति हो जाती है। भगवान् तो यहाँतक कहते हैं कि मेरी भक्ति यदि चाण्डाल करता है तो वह मेरी भक्ति नहीं करनेवाले ब्राह्मणसे श्रेष्ठ है। देखो, भक्ति करनेसे ही गुह, भील, शबरी, भीलनी—सबका उद्धार हो गया। शास्त्रोंमें उदाहरण भी मिलते हैं, आज्ञा भी मिलती है, विधिवाक्य भी मिलते हैं। शास्त्रोंमें इस विषयमें ऐसी कोई बात नहीं जिसमें जरा भी संदेह हो। जब नीच पुरुषोंका भी उद्धार हो जाता है फिर ब्राह्मणोंका, क्षत्रियोंका तो कहना ही क्या है? स्वयं भगवान् कहते हैं—

'किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।'

(९। ३३)

मतलब यह कि पुण्यात्मा ब्राह्मण, राजर्षि-क्षत्रियको मेरी शरण आनेपर परमगति मिल जाती है, इसमें तो बोलनेकी बात ही क्या है? क्योंकि जब नीची जातिवालोंको भी भगवान्‌की शरण लेनेसे मुक्ति मिल जाती है और मिली है तो स्त्रियोंको परमगति मिल जाती है, शूद्रोंको परमगति मिल जाती है, वैश्योंको परमगति मिल जाती है, इसमें तो बात ही क्या है? यहाँतक कि अति नीचको भी भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे, भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेके प्रभावसे मुक्ति मिल जाती है फिर ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी तो बात ही क्या है? मुक्ति पानेवाले बहुत-से ब्राह्मणों, क्षत्रियोंकी कथाएँ शास्त्रोंमें बहुत मिलती हैं, जो भगवान्‌के परमपदको प्राप्त हो गये हैं। स्वयं भगवान् गीतामें अर्जुनसे कहते हैं कि अर्जुन! मैंने तुम्हारे प्रति जो योगका वर्णन किया है उसको राजर्षि लोग जानते

थे। वे जानते थे तभी तो वे लोग मुक्त हो गये—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

(३। २०)

जनक आदि बहुत—राजर्षि-राजालोग कर्मोंके द्वारा संसिद्धि-परमसिद्धिको प्राप्त हो गये—मुक्तिको प्राप्त हो गये। राजा जनक तो प्रसिद्ध ही हैं, जिनके पास शुकदेवजी-जैसे लोग ज्ञानके लिये आया करते थे। इसलिये अपने मनमें यह निश्चय रखना चाहिये कि परमात्माकी प्राप्ति बहुत ही शीघ्र और थोड़े समयमें हो सकती है। इसमें बहुत कालकी आवश्यकता नहीं, किंतु साधन खूब तेजीके साथ होना चाहिये। वर्तमानमें जैसा हमलोग करते हैं, वैसा नहीं होना चाहिये, बड़ी तेजीके साथ—जोशके साथ होना चाहिये। और फिर करना ही क्या है, जब ऐसा मौका मिल गया—मनुष्यका शरीर मिल गया, इस मौकेको अगर हम उपेक्षित कर दें—टाल दें, फिर तो हमारे लिये बहुत ही मुश्किलकी बात है। अपनेको तो कमर कसकर खूब तेजीके साथ चलना चाहिये और इस जीवनके थोड़े समयमें परमात्माको प्राप्त करके शेष समयको दुनियाकी सेवाके लिये—संसारके उद्धारके लिये समर्पण कर देना चाहिये, चाहे जितने मनुष्योंका हो। जैसे तुलसीदासजी महाराज कितने उदारचित्त थे, हमारे सिद्धान्तके अनुसार, शास्त्रके अनुसार उनका उद्धार तो हो ही गया, किंतु उन्होंने जिस प्रकारसे रामायण, विनयपत्रिका आदि बहुत-से ग्रन्थ बनाये, उन ग्रन्थोंके प्रभावसे मनुष्योंका उद्धार हो रहा है, हुआ है। तुलसीदासजी-जैसे संत हुए हैं, उन्होंने अपना भी उद्धार किया और दूसरोंका भी उद्धार किया। हमलोग यदि भगवान्‌की कृपाका आश्रय लेकर कोशिश करें तो क्या हमलोग—तुलसीदासजी-जैसे नहीं बन सकते? हमारी तो यह

धारणा है कि उनसे भी बढ़कर बन सकते हैं। इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं, असम्भव बात नहीं। किंतु मनमें कभी कमजोरी नहीं आने देनी चाहिये। भगवान् जिस प्रकार अर्जुनको जोश दिलाते हुए कहते हैं—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥

(६। २३)

जहाँ महान् सुख—अत्यन्त सुखकी प्राप्ति हो जाय और फिर किसी सुखकी आकांक्षा न रहे, शरीरके ऊपर भारी-से-भारी दुःखकी प्राप्ति हो, फिर भी वह उससे विचलित न हो, ऐसे परमपदकी प्राप्ति करानेका नाम योग है। तो उस योगको जानना चाहिये। फिर दुःखोंके संयोगका वियोगरूप जो योग है—जहाँ दुःखोंकी गंध भी नहीं, नाम-निशान भी नहीं है, सब दुःखोंका अत्यन्त अभाव है, ऐसा जो योग है, उस योगका साधन तो निश्चय करके करना कर्तव्य है—करना ही चाहिये। और कैसे करना चाहिये?—'**अनिर्विण्णचेतसा**'—एकदम न उकताये चित्तसे यानी कभी निराश नहीं हो। इस प्रकार तत्परतापूर्वक चित्तसे उस योगका साधन करना कर्तव्य है, निश्चय ही करना चाहिये। किसी भी साधनसे हो, खूब तेजीसे साधन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र ही हो सकती है।

महर्षि पतंजलि कहते हैं—'**तीव्रसंवेगानामासन्नः।**' तीव्र वैराग्य और तीव्र अभ्यास करनेवाले पुरुषके लिये चित्त-निरोधरूप समाधि बहुत निकट है। उनके लिये मृदु, मध्य और अधिमात्राके सम्बन्धसे और भी निकटतर-निकटतम है। मृदुमात्राकी अपेक्षा मध्यमात्रा तेज है। अधिमात्राकी तो बात ही क्या है? हमारा अभ्यास भी तेज हो, वैराग्य भी तेज

हो, तीव्र अभ्यास हो, तीव्र वैराग्य हो तो उससे भी परमात्माकी प्राप्तिरूपी समाधि शीघ्र ही हो जाय। उनके सिद्धान्तमें निर्बीज-समाधि है, वही उनकी मुक्ति है। जीव इस प्रकार करनेसे मुक्त हो जाता है—कृतकृत्य हो जाता है। उस समाधिके साथ साधन और तीव्रतर हो जाय तो और भी जल्दी कार्य सिद्ध हो जाय, तीव्रतम हो जाय फिर बात ही क्या है? मृदुमात्रा तीव्र है, मध्यमात्रा तीव्रतर है और अधिमात्रा तीव्रतम है। उससे बढ़कर कोई गुंजाइश नहीं है। अभ्यास खूब तेजीके साथ करना चाहिये। संसारसे खूब वैराग्य करना चाहिये। तीव्र वैराग्यसे भी परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो जाती है, फिर तीव्रतर होनेके बाद तो बात ही क्या है? तीव्रतममें तो बस! अब वैराग्यकी मात्राकी ओर हम ध्यान दिलाते हैं—जैसे जडभरतजीका जो वैराग्य है वह तीव्र वैराग्य था और शुकदेवजीका वैराग्य पहले तीव्रतर था, फिर आगे जाकर तीव्रतम हो गया, उसी वक्त परमात्माकी प्राप्ति हो गयी। जनकके यहाँ जब वे गये उस समय उनमें कितना तीव्रतर वैराग्य था। यह कथा महाभारतके शान्ति-पर्वमें आती है। शुकदेवजी जब राजा जनकके यहाँ गये तो राजा जनकने सुन्दर युवा-जवान स्त्रियोंको हुक्म दिया कि तुम सब शुकदेवजीकी सेवा करो। उन्होंने आकर शुकदेवजीकी सेवा की। उबटन लगाकर स्नान कराया और बहुत बढ़िया-बढ़िया कपड़े पहनाये। इसके बाद राजाने स्त्रियोंसे पूछा कि क्या बात है? उन्होंने कहा—क्या कहें महाराज! उनमें तो इतना तीव्र वैराग्य है कि उनका किसी क्रियापर ध्यान ही नहीं है। क्रिया करनेका उनपर कोई असर ही नहीं होता। अब आप ध्यान दें कि स्त्रियोंने शुकदेवजीका वैराग्य इस प्रकार बतलाया—शुकदेवजीका हाथ जैसे लकवावालेका इधर रखा

तो इधर, उधर रखा तो उधर। उनकी तो कोई चेष्टा है ही नहीं। स्त्रियोंने अपनी मरजीसे सेवा की। इसके बाद राजा जनक उनसे मिले और पूछे—कैसे आये? शुकदेवजीने कहा—मैं आपसे उपदेश लेने, ज्ञान सीखनेके लिये आया हूँ। राजाने कहा—महाराज! मैं क्या कहूँ आप तो मुझसे भी बढ़ करके हैं, आप बहुत उच्चकोटिके हैं।

योगवासिष्ठमें जो कथा आती है उसमें थोड़ा फरक आता है। वहाँ स्त्रियोंकी बात नहीं आती। वहाँ इस प्रकारसे कथा आयी है—राजा जनकको चौकीदारों-संतरियोंके द्वारा पता लगा कि वेदव्यासजीका पुत्र शुकदेव आया है। राजाने कहा—खड़े रहने दो। आदेशानुसार शुकदेवजी सात दिनतक खड़े रहे। सात दिनके बाद राजाने पूछा—शुकदेवजी आये थे क्या वे खड़े हैं? संतरियोंने कहा—हाँ, खड़े हैं। राजाने कहा—उनकी मुद्राको देखो, उनके चित्तपर कोई विचार तो नहीं है? विकार तो नहीं है? क्रोध तो नहीं है? संतरियोंने कहा—महाराज! शान्त-चित्तसे जैसे आये थे वैसे ही खड़े हैं। राजा बोले—उन्हें भीतर ले आओ। संतरी उन्हें भीतर ले आया। राजाने पूछा—कहिये महाराज! कैसे आये? शुकदेवजी बोले—मैं आपके पास ज्ञान सीखने आया हूँ। राजाने उनसे ज्ञानकी चर्चा की—सच्चिदानन्द परमात्माकी निर्गुण-निराकार बात सुनायी। शुकदेवजीने कहा—राजन्! ब्रह्मके विषयमें जो बात आपने कही उसे तो मैं आपकी कृपासे जानता हूँ, मेरे पिताजीने भी यही उपदेश दिया था जिसे आपने कहा। किंतु मुझे परमशान्ति नहीं मिली। राजाने कहा—आपको जो शंका हो रही है कि मुझको अभी कुछ और जानना है, करना है, यही कारण है कि आपको परमशान्ति नहीं मिली। अब आपको करना, जानना कुछ भी नहीं है।

आप एकान्तमें जाकर ध्यान लगायें, बस इतनी-सी बात है। आप हमारे पास आये हैं किंतु मैं समझता हूँ कि आप मुझसे श्रेष्ठ हैं, कारण कि मुझमें भीतरसे तो वैराग्य है किंतु बाहरसे तो मैं राज्य करता हूँ, पर आपके तो बाहर-भीतर वैराग्य-उपरतिकी कोई सीमा ही नहीं है। इसलिये आप मुझसे श्रेष्ठ हैं। यह उपदेश सुन करके शुकदेवजीने एकान्तमें जाकर ध्यान लगाया जिससे उन्हें ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी। तो यह शुकदेवजीका तीव्रतर वैराग्य है। इसे तीव्रतम भी हम कहें तो कोई अनुचित नहीं होगा। जब ऐसा वैराग्य हो जाता है, तब उसे परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है। हमलोगोंको यह कोशिश करनी चाहिये कि हमारा वैराग्य तीव्रतम हो। ऐसी चेष्टा करेंगे तो तीव्रतम न भी हो तो तीव्र वैराग्य तो हो ही जायगा। यदि तीव्र नहीं होगा तो वैराग्य होनेसे भी हमारा कल्याण हो सकता है। क्योंकि भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ (६। ३५)

हे कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्यके द्वारा मनको वशमें किया जा सकता है। मन वशमें होनेसे मनको भगवान्‌में लगा दो, बस अपना काम सिद्ध हो गया। शास्त्रोंमें कहा गया है कि योगके साधनसे भी परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो जाती है, ज्ञानके साधनसे भी शीघ्र हो जाती है तथा भक्तिके साधनसे भी शीघ्र हो जाती है। कलियुगमें भक्तिके साधनसे तो और सुगमता है। स्वयं भगवान् कहते हैं—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(१२। ७)

जिन पुरुषोंने मुझ परमात्मामें चित्तको लगा दिया है, उन

पुरुषोंका मैं मृत्युरूपी संसारसे शीघ्र ही उद्धार कर देता हूँ विलम्बका काम नहीं, अचिरेण—शीघ्र ही उसका उद्धार कर देता हूँ। क्या पापीका भी? भगवान्‌ने कहा—अतिशय पापीका भी शीघ्र उद्धार हो जाता है—

'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।'

(गीता ९ । ३० पूर्वार्ध)

यदि अतिशय दुराचारी पुरुष भी मेरा अनन्य भक्त होकर, मेरी भक्ति करता है तो वह भी शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और उसे सदा रहनेवाली शान्ति प्राप्त हो जाती है—

'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।'

इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि पापीका भी उद्धार शीघ्र ही हो जाता है। हमलोगोंमेंसे जो अतिशय पापी हैं, उनका भी उद्धार हो सकता है। किंतु इस बातकी ओर ध्यान रखें—हम इस बातके लिये निश्चय कर लें कि भविष्यमें तो पाप नहीं करेंगे और भगवान्‌का भजन एकदम—अनन्यभाक् हो करके अनन्यभावसे करेंगे, अनन्य भक्त बन जायँगे तो फिर शीघ्र ही हमारा उद्धार हो सकता है। गवर्नमेंटके राज्यमें ऐसा कानून है कि गवर्नमेंटके विरुद्ध कार्यवाही करनेवाले, गवर्नमेंटके कानूनको तोड़नेवाले, गवर्नमेंटके विरुद्ध चलनेवालेको गवर्नमेंट पकड़ लेती है और थोड़ा विरुद्ध चलनेवालेको तो कैद कर देती है, ज्यादा विरोध करनेवालोंको फाँसी भी दे देती है। किंतु साथ-साथमें एक कानून और है उसके आधारपर अपराधी गवर्नमेंटसे माफी माँग ले और भविष्यमें ऐसा काम नही करूँगा; गवर्नमेंटके विरुद्ध नहीं चलूँगा, उसका पालन करता है, तो सरकार उस अपराधीको माफ कर देती है। जब यहाँकी सरकार ही अपराधीको छोड़ देती है तो भगवान्‌का

विरोध करनेवाला भी सच्चे हृदयसे अपने किये अपराधको स्वीकार करके भगवान्‌से क्षमा माँगे—भगवान्‌की शरण हो जाय तो भगवान् उसे क्षमा करके अपना लेते हैं। फिर हम तो भगवान्‌के विरुद्ध हुए ही नहीं, फिर भी मान लो यदि कोई गलती हो गयी, भगवान्‌के विरुद्ध कोई आचरण हो गया तो उसके लिये तो माफ होना स्वाभाविक ही है। भगवान्‌का भाव कितने ऊँचे दर्जेका है। भगवान्‌का जो भाव है, उनका जो सिद्धान्त है वह बहुत उच्चकोटिका है। तुलसीकृत रामायणमें आप देखिये, जब विभीषण रामकी शरण आये, उस समय भगवान् राम सुग्रीव आदि बंदरोंसे पूछते हैं कि—क्यों भैया! तुम्हारी क्या राय है? तो वे कहते हैं कि हमारी तो यह राय है कि इसको बाँधकर रखना चाहिये, क्योंकि यह अपने दुश्मन रावणका भाई है और राक्षस है। राक्षसीमाया बहुत विलक्षण होती है और राक्षसलोग बलवान् होते हैं, इसलिये इसको बाँधकर रखना चाहिये। भगवान् कहते हैं कि वाह! जो तुमने सलाह दी, वह तो जैसे मित्रोंको देनी चाहिये, वैसी दी। बहुत नीतियुक्त, बहुत बढ़िया सलाह है, फिर कहते हैं कि यह थोड़ा विचार करना चाहिये कि क्या कोई भी आदमी माया करके, कपट करके मेरे सम्मुख आ सकता है? सूर्यके सम्मुख अंधकार कभी नहीं रह सकता। मेरा भाई लक्ष्मण इतना बलवान् है कि राक्षसोंके झुंड-के-झुंडको क्षणमात्रमें मार सकता है, फिर इसके सिवाय मेरा एक और व्रत है—चाहे किसीको करोड़ों ब्राह्मणोंके हत्याका दोष लगा हो यदि वह मेरी शरण आ जाय तो मैं उसका त्याग नहीं करता हूँ। वाल्मीकिरामायणमें रामने कहा—कि एक बार "मैं आपका हूँ" इस प्रकारसे जो कह देता है मैं उसे अभयदान दे देता

हूँ। यह भगवान्‌का स्वभाव है—भगवान्‌का यह विरद है। भरतजी भी इसको जानते थे। भरतजी कहते हैं—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

भगवान् अपने दासोंके दोषकी तरफ नहीं देखते, उनका स्वभाव बड़ा ही कोमल है और वे दीनोंके बन्धु हैं।

भगवान् रामके कहनेका भाव यह है कि यदि कोई पापी-से-पापी हो, ब्रह्महत्या करके—यानी करोड़ों ब्राह्मणोंको मार करके इतना अपराध करके भी मेरी शरण आ जाता है तो भी मैं उसका त्याग नहीं करता। हमलोगोंने तो इस जन्ममें दो-चार ब्राह्मणोंकी भी हत्या नहीं की, एककी भी नहीं की। परंतु यदि अन्य जन्मोंमें हुई हो तो भी भगवान् चैलेंज दे रहे हैं। किन्तु भगवान्‌की शरण होना चाहिये—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८ । ६२)

जो सबके हृदयमें विराजमान है, सब संसारमें व्यापक है, उस परमात्माकी तू शरण जा। उसकी कृपासे परमधामको, अविनाशी स्थानको प्राप्त हो जायगा, इसमें किसी प्रकारकी शंकाकी बात नहीं है। सब प्रकारसे कैसे? मनसे, वाणीसे, शरीरसे भगवान्‌की शरण हो जाना चाहिये। मनसे परमात्माका ध्यान करना चाहिये, वाणीसे भगवान्‌के नामका जप करना चाहिये और शरीरसे भगवान्‌की सेवा करनी चाहिये। यह मन-वाणी और शरीरसे भगवान्‌की शरण जाना है। जो कुछ भी भगवान्‌के विधानसे आकर प्राप्त हो जाय चाहे सुख हो चाहे दुःख, उसे भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर खुश होना चाहिये, चाहे कोई भी परिस्थिति हो, मनके अनुकूल हो या

प्रतिकूल, उसे भगवान्‌की आज्ञा मानकर उसका पालन करना चाहिये। इस प्रकारका जिसका भाव हो वह कैसा ही पापी क्यों न हो उसका शीघ्र ही उद्धार हो जाता है। इस प्रकार भगवान्‌की शरण होनेके समान सुगम साधन है ही क्या? भगवान् कहते हैं—सत्त्व, रज तथा तमोगुणवाली मेरी मायासे तरना—पार होना बहुत कठिन है, पर जो मेरी शरण आ जाता है वह इस मायाको लाँघ जाता है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(७।१४)

और जो वासुदेवकी शरण है, वासुदेवपर निर्भर है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर सनातन परम ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम्॥

(विष्णुसहस्रनाम १३०)

शरणागतिका जो फल है वह अलौकिक है। इसके समान और फल ही क्या हो सकता है, इससे परमात्माकी प्राप्तितक हो जाती है। इन सब बातोंको ध्यानमें रख करके और सब काम छोड़कर हमलोगोंको तत्परताके साथ साधन करना चाहिये। शरीरका जो बल है वह भी हमारी मदद करता है, भगवान्‌ने हमारे शरीरमें जो मनका तथा बुद्धिका बल दिया है, वह अपनी प्राप्तिके लिये दिया है। बुद्धिमें स्थिरता रहनी चाहिये, बुद्धि शुद्ध होनी चाहिये, तीक्ष्ण होनी चाहिये। जब बुद्धि तीक्ष्ण और शुद्ध होती है तब परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है। क्योंकि परमात्मा शुद्ध और तीक्ष्ण बुद्धिके द्वारा ही समझमें आते हैं। अपने मनमें खूब हिम्मत रखनी चाहिये। सत्संग और स्वाध्याय

करनेका अभिप्राय यही है। भगवान् जगह-जगह अर्जुनको उत्साह दिलाते हैं और कहते हैं—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥

(२ । ३)

हे पार्थ! तू क्लीबताको मत प्राप्त हो, नपुंसकताको मत प्राप्त हो। यह तुम्हारे लिये उचित नहीं है, योग्य नहीं है, यह तेरे हृदयकी जो कमजोरी है, हृदयकी जो तुच्छ दुर्बलता है, उसका तुम त्याग करो और खड़े हो जाओ। भगवान्‌का यह उपदेश अर्जुनको निमित्त बना करके सारी दुनियाके लिये है। हमलोगोंको भी इस श्लोकको पढ़ करके अपने मनमें यदि कोई कमजोरी कभी आ गयी हो, साधनमें कमी आ गयी हो, कमजोर आदमियोंके संगके कारण या नास्तिकोंके संगके कारण या भगवान् और महात्मापर विश्वास न होनेके कारण या भगवान् तथा महात्माके तत्त्व-रहस्य और प्रभावको न जाननेवाले पुरुषोंकी बातोंको सुनकर किसी प्रकारकी कमजोरी आ गयी हो तो उसको एकदम हटा देना चाहिये। अर्जुनके माध्यमसे भगवान् हम सबके लिये कहते हैं कि यह नपुंसकता है, यह कायरता है, इसको तुम मत प्राप्त हो। वे कहते हैं कि यह तुम्हारे लायक नहीं। भगवान्‌ने जब हमलोगोंको मनुष्यका शरीर दे दिया तो उनके आदेशका पालन न करना हम सबको शोभा नहीं देता। इसलिये यदि हमारे हृदयमें कभी किसी प्रकारकी निराशा आ जाय तो उसी समय उसका त्याग कर दे और परमात्माकी प्राप्तिके लिये खड़ा हो जाय। हमलोगोंको और करना ही क्या है? जब यह मनुष्यका जीवन अपने हाथमें है तो फिर डरना ही क्या?

यह विचार करना चाहिये कि इस शरीरके भीतर अपना स्वरूप—अपनी आत्मा है, अभी इस बातको हम सुन चुके तो शीघ्र-से-शीघ्र अपना उद्धार कैसे हो, इस काममें लग जाना चाहिये। आजसे पहले हमारा जो समय बीता सो बीता। किसी कविने कहा है—

पाय परमपद हाथ सों जात गई सो गई अब राख रही को।

पाया हुआ परमपद तुम्हारे हाथसे जा रहा है। जो समय तुम्हारा चला गया, तुम्हारी आयु जो बीत गयी, वह बीत गयी; जो आयु बाकी है, उसकी रक्षा करनी चाहिये। आत्माका उद्धार तो एक महीनेमें हो सकता है, एक दिनमें हो सकता है, एक मिनटमें हो सकता है और मरनेके समयमें—क्षणमात्रमें हो सकता है। प्राण जानेके समयमें भगवान्‌की स्मृति हो जाय तो सारे पापोंका क्षणमात्रमें विध्वंस हो करके परमात्माकी प्राप्ति उसी समय हो जाती है। फिर चिन्ता किस बातकी है। किन्तु हमलोगोंको परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र ही कर लेनी है। फिर हम जीते रहे तो हमारे जो भाई हैं, मित्र हैं, कुटुम्बी हैं, हमसे प्रेम रखनेवाले लोग हैं उनका भी हमारे संगसे कुछ उपकार हो जाय, सेवा हो जाय तो अच्छी बात है। अपनी आत्माके कल्याण-प्राप्तिके लिये तो कोई कठिनाई है ही नहीं। जब मनुष्य अपने शरीरसे हजारों-लाखोंका कल्याण कर सकता है, तो एक अपनी आत्माके कल्याणके लिये तो चिन्ता ही क्या है। आपको यह विचार करना चाहिये कि इतना समय बीत गया, हमने अभीतक क्या किया? यदि विशेष कुछ नहीं किया तो अब तो जो अपना समय शेष है उसको तो सावधानीके साथ बिताना चाहिये। एक क्षण भी व्यर्थके काममें नहीं बिताना चाहिये। एक क्षण भी क्यों बितावे? किसलिये

बितावे? इस विषयमें न तो किसीकी शर्म रखनी चाहिये, न ही किसीका भय। किसीके भयसे, कामसे, लोभसे, मोहसे, किसीकी शर्मसे या दबावमें आकर भी अपना एक क्षणका भी समय व्यर्थमें नहीं लगाना चाहिये, क्यों लगावें? थोड़ा-सा भी समय यदि कम रह जायगा तो फिर हमें जन्म लेना पड़ेगा। इसलिये उस कामको तो पहले ही कर लेना चाहिये। जिस कामके लिये हमलोग आये हैं, उस कामको लाख काम छोड़कर भी पहले बना लेना चाहिये। परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्यका शरीर मिला है।

सृष्टिमें असंख्यासंख्य—कोटि जीव हैं, उनमें हमलोग भी शामिल हैं। उन असंख्य कोटिके जीवोंमें सारी पृथ्वीमें मनुष्य तीन अरबसे अधिक नहीं हैं। मनुष्यके अलावा पशु-पक्षी, कीट-पतंगादिकी मुक्ति तो हो नहीं सकती, उस तीन अरबके अन्तर्गत हमलोग हैं। आपको ध्यान देना चाहिये कि कितने असंख्य कोटि जीवोंमें भगवान्‌ने मनुष्यके लायक सोच-समझ करके हमको मनुष्य बनाया है और मौका दिया है। यह मौका क्या बार-बार मिल सकता है? यदि नहीं तो इस मौकेको काममें अवश्य लाना चाहिये। जब भगवान्‌ने मनुष्यका शरीर दिया है, भगवान्‌ने उदारता की है, दया की है, यह मौका दिया है, उसे सफल बनाना चाहिये। जिस-किसी प्रकारसे हो शीघ्र-से-शीघ्र परमात्माको प्राप्त करना है, यही सफल बनाना है। परमात्माकी प्राप्तिका जो मार्ग है उसके विपरीत एक क्षण भी अपना समय नहीं बिताना है, चाहे जो भी कुछ हो। परमात्माकी प्राप्तिका जो मार्ग है उसे तय करना है। वे परमात्मा हर समय सब जगह परिपूर्ण हो रहे हैं, इस बातका हर समय ध्यान रखना है। जैसे बादलमें जल व्यापक

है उसी प्रकार परमात्मा सबमें व्यापक है। जैसे बादलोंमें आकाश व्यापक है, इसी तरह परमात्मा निराकार-रूपसे सब संसारमें व्यापक हैं—परिपूर्ण हैं। वे ही परमात्मा कृपा करके हमारा जहाँ प्रेम होता है वहीं प्रकट हो जाते हैं, दर्शन दे देते हैं। जिसमें प्रेम होता है उसे तो दर्शन देते ही हैं, जिसके हृदयमें प्रेम नहीं है, पर जो भगवान्‌को चाहता है उसपर भी भगवान् दया करते हैं। इसलिये हमलोगोंको कोई भी चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है। यदि हम उसके लायक नहीं होते तो भगवान् हमलोगोंको मनुष्य बनाते ही नहीं। अगर मनुष्य बना दिया तो अब जो हमारे हृदयमें कमजोरी आये, अश्रद्धा आये, अज्ञता आये, आसक्ति घेरे उसे लात मारकर हटा देना चाहिये, इनकी यहाँ आनेकी कोई भी जरूरत नहीं है। भगवान्‌की हमारेपर इतनी कृपा है, इतना प्रेम है, जिन्होंने असंख्य कोटि जीवोंमें चुनकर हमको यह मौका दिया है। क्या इस बातको हम भूल जायँ? भगवान्‌की दयाको, प्रेमको, उपकारको हम भूल करके कृतघ्नी बनें यह कभी नहीं हो सकता।

भगवान् भी हमसे आशा रखते हैं, क्योंकि आशा रखकर ही तो उन्होंने हमें मनुष्य-शरीरका मौका दिया है। मनुष्य-शरीरको देकर मौका दिया है। दिनमें, रातमें जब इस बातकी तरफ खयाल जाय तो हमें सावधान हो जाना चाहिये कि अपना साधन तो ठीक चल रहा है न? जहाँ हमारी बुद्धि जाय, मन जाय, वहीं भगवान्‌के स्वरूपका अनुभव करें। बुद्धिसे यह हर समय निश्चय रखना चाहिये कि परमात्मा निश्चय हैं, सब जगह हैं और भगवान्‌की हमारे ऊपर कृपा है। भगवान् हमें मिलेंगे, क्योंकि ये सब आयोजन हम देख रहे हैं कि सिर्फ हमें मनुष्य ही बना दिया ऐसी बात नहीं है। उत्तम

देश, उत्तम काल, उत्तम जाति, उत्तम धर्म और उत्तम संग—इन सब बातोंको पाकर हमें आशा होती है कि ये सब भगवान्‌की विशेष कृपा है। ऐसा मौका पाकर भी हम ध्यान नहीं दें तो समझो कि भगवान्‌की दया और प्रेमको ठुकराना है, यह तो हमारी मूर्खता है। भगवान् दया करके हमारे मस्तकपर हाथ रखते हैं और हम कहते हैं कि अपना हाथ हटा लो, कैसी मूर्खता है। भगवान्‌ने सब प्रकारसे तजबीज कर जो ऐसा अवसर दिया है यही भगवान्‌का हमारे सिरके ऊपर हाथ है। मनुष्यको हर समय यही समझना चाहिये कि हमारे मस्तकपर भगवान्‌का हाथ है। हमें किस बातकी चिन्ता? इस प्रकार अपने मस्तकपर भगवान्‌का हाथ समझ करके क्षण-क्षणमें मुग्ध होना चाहिये। हमारे नेत्र जहाँ जायँ वहीं भगवान्‌का दर्शन करना चाहिये। जैसे सोनेके आभूषण हैं, गहने हैं, उन सबमें नाम और रूप कल्पित है, वास्तवमें उसमें उसकी मूल धातु सोना ही है। इसी प्रकार समझो कि सारे संसारमें भगवान् ही एकदम परिपूर्ण हैं। जैसे बर्फके ढेलेमें जल-ही-जल है, जलके अतिरिक्त और वस्तु नहीं है, इसी प्रकारसे इस ब्रह्माण्डके अंदर भगवान् बर्फमें जलकी भाँति परिपूर्ण हो रहे हैं। हर समय हमें यह समझना चाहिये कि भगवान् निराकार-रूपसे सबमें व्यापक हो रहे हैं। हम चाहें तो साकार-रूपमें भी भगवान् प्रकट हो सकते हैं। निराकारका यथार्थ ज्ञान साक्षात् परमात्माको प्राप्त करानेवाला है। यह ज्ञान हर समय कायम रहना चाहिये। इससे परमात्माकी प्राप्ति हुई पड़ी है। परमात्मा सब जगह परिपूर्ण है, इस ज्ञानके अनुसार भगवान्‌के ध्यानमें मस्त रहे, ऐसी मस्तीमें चूर रहे कि भगवान्‌के सिवाय और किसी भी बातका ज्ञान नहीं रहे। तीव्र जप-ध्यानरूप साधन

करनेसे वैराग्य एकदम तीव्र हो जाता है और जब तीव्र वैराग्य हो जाता है, तब भजन-ध्यानका साधन अपने-आप ही तीव्र होने लगता है, इसके लिये प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। इसमें ऐसा रसास्वाद आता है, प्रसन्नता होती है, शान्ति मिलती है, आनन्द मिलता है, मानो आनन्द और शान्ति उत्तरोत्तर बढ़ रहे हैं। सब जगह कैसा आनन्द हो रहा है। हमारे मनमें, बुद्धिमें, इन्द्रियोंमें, नेत्रोंमें, अणु-अणुमें, जर्रे-जर्रेमें, सब जगह आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण हो रहा है। आप खयाल करके देखें, नीचे-ऊपर, बाहर-भीतर एक आनन्दके सिवाय दूसरी वस्तु है ही नहीं, एक केवल सच्चिदानन्दघन परमात्मा हमारे नीचे-ऊपर, बाहर-भीतर सब जगह समान भावसे परिपूर्ण हो रहे हैं। मानो हम सबलोग आनन्दके सागरमें डूबे हुए हैं या यों समझो जो आनन्द है, शान्ति है, वह कैसी अलौकिक शान्ति है, चिन्मय आनन्द है। इसलिये हमारे मन, बुद्धि, इन्द्रियोंमें चेतनता है, ज्ञानकी बाहुल्यता है, यह परमात्माका स्वरूप है। वह आनन्दमय जो परमात्मा है वह आनन्द ही तो ज्ञानस्वरूप है, इस वास्ते हमारे नीचे-ऊपर सब जगह आनन्द-ही-आनन्द प्रतीत हो रहा है। कैसा है वह आनन्द? विज्ञानघन आनन्द है, मानो वह बोधरूप, ज्ञानरूप है, मन-बुद्धि, इन्द्रियोंमें जो चेतनता है, ज्ञानकी जो दीप्ति है, बाहुल्यता है यह परमात्माका ही स्वरूप है। इस प्रकारसे यदि परमात्माके स्वरूपका अनुभव होता रहे तो क्या कोई मायाका कटक आ सकता है? क्या उसकी सामर्थ्य है कि वह आ सके। मायाका कटक अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि—ये उसके पास भी नहीं आ सकते। जब ये पासमें भी नहीं आ सकते तो इसके द्वारा काम-क्रोध-लोभ-मोहसे होनेवाले दुराचार कैसे

हो सकते हैं। हो ही नहीं सकते। उसके दर्शनसे तो दूसरोंके भी पाप नष्ट हो जाते हैं, जब दूसरोंके काम-क्रोध भाग जाते हैं तो उसको तो हो ही कैसे सकते हैं। इस बातको समझ करके अपने बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर सब जगह उस परमात्माके स्वरूपका साक्षात् हर समय अनुभव करते रहना चाहिये। इस प्रकारका जो अनुभव है वही तो एक प्रकारसे परमात्माका असली ध्यान है, परमात्माका यदि ध्यान बना रहे तो परमात्मा खुद अपने-आप ही आयेंगे। उनको बुलानेकी कोई जरूरत नहीं। इसमें उत्तरोत्तर जो शान्ति है वह आनन्द ही शान्तिके रूपमें दीख रहा है। देखो कैसी शान्ति है, कैसी विलक्षण शान्ति हो रही है मानो परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद जो शान्ति होती है, ऐसी शान्तिका यहाँ साम्राज्य है। हमारे नीचे-ऊपर सब जगह एक शान्ति-ही-शान्ति परिपूर्ण हो रही है। अलौकिक आनन्द हो रहा है। आनन्दमय, आनन्दमय, आनन्दमय। आनन्दका नाम उच्चारण करनेसे आनन्द प्रकट हो जाता है। उसका प्रादुर्भाव हो जाता है, रोमांच होने लगता है। चित्तमें प्रसन्नता हो जाना, शान्ति प्राप्त हो जाना यह आनन्दका ही तो स्वरूप है। आनन्द ही प्रसन्नताके रूपमें, शान्तिके रूपमें, प्रेमके रूपमें प्रकट होता है। इन सब बातोंको हर समय ध्यानमें रखना चाहिये। यदि ऐसी हमारी वृत्ति बनी रहे तो बहुत शीघ्र ही कल्याण हो सकता है। ऐसा ध्यान हमारा सदा ही बना रहे। ऐसी वृत्ति क्यों नहीं बनी रहती, ऐसी कौन-सी बात है? नहीं बनी रहनेका कारण और क्या है? हर समय भगवान्‌के ध्यानमें मस्त हो करके मगन रहना है। ऐसे समयमें यदि हमारे प्राण भी जायँ तो कल्याण होनेमें कहना ही क्या है। यह तो परमात्माका ध्यान है। परमात्माका ध्यान चाहे

निराकारका हो चाहे साकारका, सगुणका हो चाहे निर्गुणका, बस ऐसी अवस्थामें ध्यान करते-करते प्राण चले जायँ तो समझो कि कल्याण निश्चय ही हो गया। इसमें शंकाकी बात नहीं। स्वयं भगवान् कहते हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८ । ५)

अन्तकालमें मेरा स्मरण करता हुआ जो शरीरको त्याग करके जाता है वह मेरे भावको प्राप्त होता है। इसमें कोई शंकाकी बात नहीं है। इसी प्रकारसे जैसे भगवान्‌के सगुण-रूपमें यह बात कही, वैसे निर्गुण-रूपमें भी दूसरे अध्यायके अन्तमें यही बात कही—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

(२ । ७२)

ब्राह्मी स्थितिवाला व्यक्ति ब्रह्मके स्वरूपमें होनेवाली स्थितिको प्राप्त होकर मोहसे मुक्त हो फिर कभी मोहको प्राप्त नहीं होता। ऐसी स्थिति अन्तकालमें भी हो जाती है तो वह निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके स्वरूपमें स्थिति हो जाय तब भी वही बात है। यह ब्रह्मका ध्यान है। ब्राह्मी स्थितिवाला व्यक्ति ब्रह्मके ध्यानमें जब मस्त हो जाता है तब उसकी दृष्टिमें सृष्टि नहीं रहती। संसारी मनुष्य जो विषय-भोगोंमें रचे-पचे हैं, उनकी दृष्टिमें ब्रह्म नहीं है। और जो परमात्माके—ब्रह्मके स्वरूपमें स्थित हैं, उनकी दृष्टिमें संसार नहीं है। इसी भावको गीतामें इस प्रकार बतलाया गया है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

(२ । ६९)

इसीका भाव मैंने आपको बतलाया। यह स्थिति ब्राह्मी स्थिति है। ब्रह्मके स्वरूपमें जब ऐसी स्थिति हो जाती है तब ब्राह्मी स्थितिवाला मनुष्य निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकारसे भगवान्‌के सगुण-साकारका, अर्थात् भगवान् रामचन्द्रजीका, विष्णुभगवान्‌का, श्रीकृष्णजीका ध्यान करते हुए मृत्यु हो जाय तो भी वही बात है। जो इस प्रकार भगवान्‌के ध्यानका अभ्यास करता है उसकी अन्तकालमें ऐसी स्थिति अवश्य होती है। यह बात भगवान्‌ने गीतामें बतलायी है—

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥

(७ । ३०)

अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञके सहित जो मुझे जानता है, यानी जो कुछ है सब परमात्मा ही है। यही अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञके सहित जानना है। '**वासुदेवः सर्वमिति**'—जो कुछ है सब वासुदेव है, परमात्मा ही है। इस प्रकारका जो जाननेवाला है, अनुभव करनेवाला है वह अन्तकालमें मुझ परमात्माका अनुभव करता है। अन्तकालमें अनुभव करनेसे वह मुझे ही प्राप्त हो जाता है। यह परमात्माके स्वरूपमें स्थिति है। ऐसी स्थिति हर समय रखनी चाहिये। ऐसी स्थिति हर समय रखनेसे निश्चय ही कल्याण हो जाता है।

महात्माओंके प्रभाव और रहस्य

जो महात्मा पुरुष होते हैं उनका बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। अपने यहाँ जो सत्संगकी बातें होती हैं उसमें जैसे विघ्न आ जाते हैं, वैसे विघ्न महात्मा पुरुषोंका जहाँ सत्संग होता है वहाँ बहुत ही कम आते हैं, नहीं आते हैं—यह भी कहा जा सकता है। यह बात हमारी देखी हुई है।

हम जब छोटे थे, उस समय मेरी नानी, मेरी माँ रतनगढ़में सत्संगके लिये एक साधुके पास जाया करती थीं। लक्ष्मीनाथजी महाराज वहाँ बहुत अच्छे साधु माने जाते थे। वे कोई-न-कोई पुस्तक देखते रहते थे। कभी सत्संगकी बातें करते तो कभी पुस्तक देखते। कभी भजन-ध्यान करते। मैं भी कभी-कभी नानीके साथ जाया करता था। वे मुझे रास्तेमें समझा देतीं कि तुम चुप रहना। मैं हल्ला नहीं मचाता, चुपचाप बैठ जाता। वहाँ मेरा जानेका उद्देश्य कोई सत्संगके लिये नहीं था। वहाँ झाड़ियाँ हुआ करती थीं। मैं बेर खानेके लिये वहाँ जाता था। वहाँ कई भाई आते थे, उनमें कोई हनुमान्‌जीके अनुयायी नारियल चढ़ाते थे, इनसे गिरी (प्रसाद) मिलती थी। अपने जानेका उद्देश्य केवल गिरी खाना और बेर खाना था। अपना काम तो हो गया, अपना मन तो वहाँ लगता नहीं। शोर और चंचलता करनेकी मनाही थी। नानीका कहना था कि चंचलता करोगे तो मैं तुम्हें नहीं लाऊँगी। तब मैं सोचता कि यदि अपने साथमें नहीं लायेगी तो मुझे बेर और गिरी नहीं मिलेगी, यह मेरे मनमें लोभ था। इसलिये मैं वहाँ चुप रहता। फिर जब समय अधिक होने लगता तो मैं सोचता अब घर चलूँ, तो उनका कपड़ा पकड़कर खींचता। मुझे

बोलनेकी मनाही थी, कपड़ा खींचनेपर वे नाराज होतीं। मेरी नानीका कपड़ा खींचना और नाराज होना साधु देखते और बोलते कि लड़का जल्दबाजी करता है, तुम चली जाओ और फिर वे चली आतीं, रास्तेमें धमकातीं कि इसीलिये मैं तुम्हें साथमें नहीं लाना चाहती हूँ। वहाँ जानेके बाद तू जल्दबाजी करता है कि चलो, चलो। मैंने वहाँ देखा कि उन संतजीका प्रभाव ऐसा पड़ता था कि कोई हल्ला नहीं करता। यदि दूर कोई हल्ला मचाता तो दूसरा आदमी इशारेसे कहता कि हल्ला नहीं मचाना। महाराजको मालूम होगा तो ठीक नहीं होगा। कोई भी आदमी कहीं हल्ला कर रहा होता तो दूसरे लोग ही मना कर देते थे। प्रेमसे बालकोंको समझा देते थे। मैं जब वहाँ जाता तब यही देखता, कोई हल्ला-गुल्ला नहीं होता, न कोई विघ्न ही आता। इससे मालूम होता है कि यह महात्माका प्रभाव था।

आप लोगोंको यह समझना चाहिये कि जहाँ हल्ला-गुल्ला हो रहा हो वहाँ किसीका प्रभाव काम नहीं करता, परंतु जहाँ महात्मा लोग होते हैं वहाँ उनका प्रभाव पड़ता है, वहाँ बच्चे भी हल्ला-गुल्ला नहीं करते। बच्चोंको जैसी शिक्षा दी जाती है वैसा ही वे करते हैं। अपने यहाँ एक रीति है कि रसोईघरमें कोई बच्चा नहीं जाता है, जो छोटा बच्चा है, स्तन-पान करनेवाला है तो माँ उसे बाहर आ करके स्तन-पान कराये। क्योंकि लड़के या लड़कीको माँ रसोईघरमें जाने नहीं देती, क्योंकि बच्चे हैं, पेशाब भी करते हैं, टट्टी भी कर सकते हैं, इनका कोई विश्वास नहीं है। रसोईघरमें ये जानेके योग्य नहीं हैं। तो उनको ऐसी आदत डाली जाती है। कोई तीन-चार सालका लड़का या लड़की खुद ही रसोईघरमें नहीं जाती।

उसे यह अभ्यास हो जाता है कि मेरा यहाँतक ही अधिकार है, आगे नहीं है। इस प्रकारसे छोटा बच्चा भी समझ लेता है। जैसा उसे सिखाया जाता है, अभ्यास कराया जाता है वैसा ही उसको मानना पड़ता है। हमलोग इतने बड़े हो गये, अपने मनमें किसी भी प्रकारका निर्णय कर लें तो उसका पालन होना सम्भव है, कोई असम्भव बात नहीं। इसी प्रकारसे जो बड़े बालक हैं, ६ वर्षके, ८ वर्षके, १२ वर्षके और वे यदि रोवें या विघ्न करें तो समझना चाहिये कि उनके ऊपर शासन नहीं है। और जो सत्संगके लिये आते हैं उनकी श्रद्धा नहीं है, यदि अपने बालकोंपर शासन कर लें तो वहाँ कोई भी विघ्न-बाधा न आये। इसे मैंने अपनी आँखोंसे देखा है। अपने यहाँ तो अनेक प्रकारकी बाधा आती है। परंतु यहाँ यदि महात्माओंका प्रभाव होता तो कोई विघ्न-बाधा नहीं आती। महापुरुषोंका जो प्रभाव है वह एक अलग चीज है।

किसीने कहा कि आप कोई ऐसी बात कहें जो धारण हो जाय। बात तो बहुत ठीक है, परंतु धारण होनेकी जो बात है, हमारेमें कोई ऐसी शक्ति हो जिसके प्रभावसे हम जो बात कहें वह बाध्य होकर माननी पड़े, ऐसी तो मुझमें कोई शक्ति है नहीं और न ऐसा प्रभाव ही है कि हमारी बातको बाध्य होकर काममें लाना ही पड़े। सुननेवाले जो भाई हैं वे सुन करके, विश्वास करके काममें लायें तो लायें। बात तो कहती नहीं कि मैं काममें नहीं आऊँगी। क्योंकि बात तो जड ही है, वास्तवमें विश्वासपूर्वक कोई भाई सुनें तो काममें ला सकते हैं। कोई असम्भव बात नहीं है। और यदि नहीं ला सकते हैं तो हमारे विश्वासकी कमी है और दूसरा कोई भी कारण नहीं है। मान लो हमें कोई बीमारी

हो गयी और जिस वैद्यपर हमारा विश्वास है वह कहता है कि ऐसा करो, वह जैसा बतला देता है हम वैसा ही करते हैं, जरा भी भूल-चूक नहीं करते। यदि कहता है कि इतने बजकर इतने मिनटपर अमुक वस्तुके साथ वह खुराक देनी है, बतला दिया यह मकरध्वज है इसे शहदके साथ देना है। मान लो शहद नहीं है तो क्या हम यह सोचते हैं कि शहद नहीं है तो क्या हुआ इसे जलके साथ पिला दें? नहीं पिलाते, क्योंकि वैद्यने शहदके साथमें देनेको कहा है। किसी और चीजके साथ देनेको नहीं कहा है। इसलिये शहदके साथ ही पिलाते हैं। कोई भी पथ्य बतला दिया कि ऐसा करना चाहिये तो वैसा ही करते हैं। और यदि गड़बड़ करते हैं तो मामला गड़बड़ हो जाता है। बीमारी बढ़ जाती है। तब वैद्यसे आप बीमारी बढ़नेकी बात बतलाते हैं और वैद्य पूछता है कि आपने दवा खिलायी न? आप कहते हैं कि आपने जो दवा दी उसे खिला दी। फिर वैद्य पूछता है कि कोई फुलका वगैरह तो चुपड़कर नहीं दे दिया। आप कहते हैं—फुलका वगैरह तो नहीं दिया, पर दोपहरके समय आज थोड़ी-सी मिठाई दी थी। वैद्य कहता है कि जब तुम जान करके मारना चाहते हो तो वह मरेगा ही। इसी प्रकार कहा जाता है कि जो कुछ भी हो व्यवहारमें झूठ, कपट, बेईमानी नहीं करनी चाहिये। आप कहते हैं कि झूठ, कपट, बेईमानी तो मैंने नहीं की, किंतु एक आदमीको धोखा तो दे ही दिया। दगाबाजी तो हो गयी। यह तो ज्यादा जुर्मका काम है। उसको क्या धोखा दिया? उसने कहा अपने यहाँ रुपयोंकी थैली रखी थी उसे उठाकर तिजोरीमें रख दी और उसने आकर खोजी तो अपने चुप रहे और वह खोजकर

चला गया यह चोरी हुई क्या? हम इसमें मौन रहे, झूठ नहीं बोले। झूठ नहीं बोले लेकिन दूसरोंका रुपया तो हजम कर लिया, बोले भी नहीं, यह ज्यादा जुर्मका काम है।

तो इस प्रकारसे जो आदमी पाप करता है उसकी रक्षा कौन करे। इसी प्रकारसे यह बात सुनी जाती है कि ऐसा करना चाहिये, वैसा करना चाहिये और हम नहीं करते हैं, उसका दुरुपयोग करते हैं, उसमें कारण यह है कि विश्वास नहीं है, जिस विषयमें हमारा विश्वास होता है उसमें हम कभी गड़बड़ नहीं करते। मान लो कोई खूनका मामला हो और हम समयपर कचहरी न जायँ और हाकिमका हुकुम नहीं मानते हैं तो हमको जेल होगी। इस भयसे हम ठीक समयसे पाँच मिनट पहले हाजिर हो जाते हैं। कहीं ऐसा न हो कि पुकार सुनायी न पड़े और आवाज देनेवाला कह दे कि "हाजिर नहीं हैं", इसलिये हम पहलेसे ही जाकर बैठ जाते हैं। पुकार होती है चार घंटे बाद और हम पहलेसे ही तबतक बैठे रहते हैं। हुकुमके पालनमें पाबंद रहते हैं, क्योंकि हमें विश्वास है कि यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो हमारा मुकदमा खराब हो जायगा। पर यहाँ तो जन्म-मरणका मुकदमा लगा हुआ है, उसके विषयमें ऐसा ही विश्वास हो जाय तो हम शास्त्रोंकी, महात्माओंकी बातोंको कब टाल सकते हैं। किन्तु सांसारिक विषयमें तो यह विश्वास है कि हम नहीं करेंगे तो हमको दण्ड मिलेगा। उसी प्रकारसे परमार्थमें भी यह विश्वास हो जाय कि हम काम नहीं करेंगे तो हमको दण्ड मिलेगा। फिर वह काम हम अवश्य करेंगे। इसलिये हमको विश्वास करना चाहिये। शास्त्रोंमें जो बात है उसके अनुसार चलना चाहिये और जिसका निषेध किया है उसका

त्याग करना चाहिये। त्याग नहीं करेंगे तो दण्ड अवश्य ही भोगना पड़ेगा। यदि यह विश्वास हो जाय तो कोई भी मनुष्य पाप नहीं करेगा। पाप करनेका अभिप्राय यह है कि शायद इसका दण्ड मिले या न मिले। यदि निश्चय हो जाय कि दण्ड अवश्य ही मिलेगा तो कौन ऐसा मूर्ख होगा जो थोड़े सुखके वास्ते दण्ड सहना स्वीकार करेगा। पाँच रुपयोंकी चोरी करे और छः महीने जेलमें जाना पड़े ऐसा कौन करेगा?

अब प्रभावकी बात बतायी जाती है। आपने कहा कि आप ऐसी बात कहें जो हमारे धारण हो सके। बातकी तो यह शक्ति है नहीं कि वह धारण हो जाय। आप अगर काममें लायें तो कोई असम्भव नहीं, इसमें आप स्वतन्त्र हैं और ला सकते हैं। कोई भी मनुष्य हो, उसे गीता, रामायण, भागवतकी जो बात बतलायी जाती है, शास्त्रोंकी जो बात बतलायी जाती है, यह विश्वास हो जाय कि गीता भगवान्‌का वचन है और शास्त्र महात्माओंके वचन हैं तो इनका पालन करना हमारे लिये कल्याणप्रद है। ऐसा विश्वास करके तत्परताके साथ हम प्रयत्न करें तो ऐसी कोई बात नहीं है कि उसका पालन न हो सके। यह समझना चाहिये कि इतनी दामी बात है, इतनी ऊँची बात है, इसे हम कैसे छोड़ सकते हैं? जब इतने फायदेकी चीज है तो हम कैसे छोड़ सकते हैं, त्याग सकते हैं, कैसे भुला सकते हैं। कोई रुपयोंके फायदेकी चीज होती है, लाभकी चीज होती है तो उसे हम काममें लाते हैं। रुपयोंसे भी इसका अधिक दाम है। इसमें लापरवाही क्यों हो? नहीं होनी चाहिये। जो इसे रुपयेसे ज्यादा दामी समझता है, आदर देता है वह इसे कैसे छोड़ेगा, कैसे त्याग कर सकेगा। हम तो जब इस बातको सोचते हैं, विचारते

हैं तब हमारे दिलमें यही बात आती है कि हम जिस बातको उत्तम समझते हैं, बहुत दामी समझते हैं उसको नहीं छोड़ सकते। हम ऐसा ही विचार हर आदमीके लिये करते हैं, आप जिसको दामी समझ लेते हैं उसका त्याग नहीं कर सकते। तो हम मामूली बातोंके लिये विचार करके देखते हैं, जिसे हम हानिकारक समझते हैं उससे दूर ही रहते हैं और जिसे लाभप्रद समझते हैं उसे त्याग नहीं सकते। तो वास्तवमें जो हम त्याग करते हैं उसे लाभप्रद नहीं समझते हैं यही समझना चाहिये। कोई भी अच्छा पुरुष होगा जिसमें थोड़ी भी समझ होगी, वह जान-बूझकर अपने अहितका काम नहीं करेगा। वह हितके काममें अवेहलना नहीं कर सकता। सांसारिक लाभ-हानिमें यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मनुष्य जिसमें अपनी हानि समझता है उस कामको नहीं करता है और जिसमें लाभ समझता है उसको करता है। सांसारिक लाभ-हानिकी अपेक्षा तो धार्मिक विषय, आध्यात्मिक विषय, परमात्माका विषय और भी अधिक दामी है, उसमें अवहेलना हो ही कैसे सकती है? जहाँ अवहेलना होती है, जहाँ तिरस्कार होता है वहाँ यही समझना चाहिये कि श्रद्धा नहीं है, विश्वास नहीं है। श्रद्धा और विश्वासका तो बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। उसकी तो यह ताकत नहीं है वह उसे छोड़ सके। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी पिता दशरथके वचनोंपर श्रद्धा थी, विश्वास था। वाल्मीकिरामायणके अयोध्याकाण्डमें लिखा है कि श्रीरामचन्द्रजीसे उनकी माता कौसल्याने कहा कि तेरे पिताजीकी आज्ञा है तुम्हें वनमें जानेकी, किन्तु मेरी आज्ञा है कि तुम मत जाओ। श्रीरामचन्द्रजीने यही कहा कि पिताजीकी आज्ञाका उल्लंघन करना मेरी सामर्थ्यके बाहर है। मुझमें ऐसी शक्ति ही नहीं

है कि मैं उनकी आज्ञाका पालन न करूँ। मैं विष खा सकता हूँ, अग्निमें कूद सकता हूँ—पिताकी आज्ञासे सब कुछ कर सकता हूँ यह तो बात ही क्या है। इससे यह सिद्ध होता है कि श्रीरामचन्द्रजीकी पिताके वचनोंमें बड़ी भारी श्रद्धा थी। ये उनकी अवहेलना नहीं कर सकते थे। यह समझना चाहिये कि कठिन-से-कठिन यदि कोई काम हो और अगर पालन करनेवालेकी श्रद्धा हो तो वह उसकी अवहेलना नहीं कर सकता। जो उच्चकोटिका श्रद्धालु है उसकी तो बात ही क्या है। यदि वह अपने श्रद्धेयकी बात काममें नहीं ला सके तो उसके प्राण ही नहीं रह सकते। वह संसारमें जी नहीं सकता। संसारमें वह उनके अनुसार ही अपना जीवन बना करके जीता है। गौरांग महाप्रभुने जब हरिदासका त्याग कर दिया तो हरिदासजी इस बातको बर्दाश्त नहीं कर सके। वे जा करके गंगामें कूदकर मर गये, अपने प्राणोंका त्याग कर दिये। लक्ष्मणजीको भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने जब त्याग दिया तो लक्ष्मणजी गये और जा करके सरयूमें अपने प्राण त्याग दिये। उन्होंने कहा—जब भगवान् रामके द्वारा मैं त्यागा गया तो संसारमें मेरा रहना व्यर्थ है। यह प्रसंग वाल्मीकिरामायणके उत्तरकाण्डमें है। उच्चकोटिके पुरुषोंका जिनमें श्रद्धा और विश्वास होता है उनके छोड़नेपर वे जी नहीं सकते। और भी उच्च भाव होवे तो उसी वक्त उनके प्राण नहीं रह सकते।

भरतजी महाराजका श्रीरामचन्द्रजीमें श्रद्धा और प्रेम था। रामके चौदह वर्षके वनवासकी अवधि जब समाप्त हो गयी तो भरतजी महाराजकी रामचन्द्रजीके विरहमें ऐसी दशा हो गयी कि मरनेकी तैयारी हो गयी। कोई जान करके मरनेकी बात नहीं थी। भगवान्‌के विरहकी व्याकुलतामें वियोगके कारण उनके

प्राण जानेकी तैयारी हो गयी। उन्होंने मरनेके लिये हठ नहीं किया, यह नहीं कि अग्नि जलाकर मैं उसमें प्रवेश करूँगा—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥

श्रीरामचन्द्रजीका जो विरह है वह सागर है, उसमें भरतजीका मन मगन हो गया। उस समय हनुमान्‌जी उनके प्राणोंको बचानेके लिये नौकाके रूपसे आ गये। ब्राह्मणका रूप धारण करके हनुमान्‌जी वहाँ पहुँच गये। जैसे कोई आदमी डूब रहा हो और उसे बचानेके लिये कोई नौका लेकर आ जाय और उसे बचा ले। इसी प्रकार विरहरूपी सागरमें भरतजी डूब रहे थे। उनके प्राणोंके जानेकी तैयारी हो गयी थी, किन्तु हनुमान्‌जी बचाने पहुँच गये। उनके लिये हनुमान्‌जी नौकारूप हो गये और उनको उन्होंने बचा लिया। इससे यह समझना चाहिये कि भरतजी महाराजका भगवान्‌में इतना प्रेम था कि उनके वियोगको वे सह नहीं सके। चौदह वर्षतकका वनवास जो उन्होंने सहन किया वह श्रद्धाके बलपर, क्योंकि साथ-साथमें श्रद्धा भी थी, पर श्रद्धाने जब जवाब दे दिया, जवाब कैसे दिया? कि भगवान्‌की आज्ञा थी कि चौदह वर्षतक तुम रहो। पन्द्रहवें वर्षके पहले दिन मैं पहुँच जाऊँगा। भरतजीने कहा था कि १४ वर्षकी अवधि समाप्त होनेपर पन्द्रहवें वर्षके पहले दिन आप यदि अयोध्यामें नहीं पहुँचेंगे तो मैं अपने प्राणोंका त्याग कर दूँगा यानी अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा। महाराजने इस बातको स्वीकार कर लिया कि ठीक है। चौदह वर्षकी तो अवधि थी। भरतजीकी भगवान्‌की बातोंपर श्रद्धा थी, उनकी आज्ञाका पालन किया। अब आज्ञाका पालन तो हो चुका, चौदह वर्ष समाप्त हो चुके, श्रद्धा भी पूरी हो

गयी, अब भरतजी किस आधारपर जीवें। अबतक तो श्रद्धाके आधारपर जीवित थे। भगवान्‌की आज्ञाका पालन करते थे। अब आज्ञाका पालन तो हो चुका, अब एक क्षण भी भगवान्‌के बिना भरतजी कैसे रह सकते हैं। यह भरतजीका प्रेम था। यदि कहो कि इतनी भारी भरतजीकी श्रद्धा थी तो भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने यह आदेश क्यों दिया। तो वाल्मीकिरामायणमें लिखा है कि पिताने अयोध्याका राज्य तुम्हें दिया है और मुझे वनका राज्य दिया है तो तुम अयोध्याका राज्य करो, इसपर भरतजीने वह बात नहीं मानी बल्कि उसका विरोध किया और कहा कि नहीं, आप लौट चलें, यदि नहीं चलेंगे तो मैं अनशन-व्रत करके अपने प्राणोंका त्याग कर दूँगा। यदि यह कहो कि यहाँ भरतजीकी श्रद्धा कहाँ रही, तो ठीक है, यहाँ यह समझना चाहिये कि भरतजीका भगवान् राममें बड़ा भारी प्रेम था, प्रेम रक्षा करता है। इसलिये प्रेमके नाते इस प्रकारका व्यवहार किया जा सकता है। यदि कहें कि भरतजी हठ क्यों करते हैं? यहाँ हठ करनेमें स्वार्थका त्याग है। राज्यको ठुकरा रहे हैं और चाहते हैं कि महाराज राज्य करें और मैं उनके चरणोंकी सेवा करूँ। यह भरतजीका अलौकिक प्रेम है। इस प्रेमके कारणसे आज्ञाका उल्लंघन कर सकते हैं। जिस स्थितिमें ऐसा मौका न हो तो आज्ञाकारी मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है। पद्मपुराणमें लिखा है कि जब श्रीरामचन्द्रजीने सुना कि सीताको लेकर लोग अपवाद कर रहे हैं तो उन्होंने भरतजीसे कहा कि भरत! तुम सीताको वाल्मीकि ऋषिके आश्रमके नजदीक छोड़ आओ। भरतजी आज्ञाका पालन नहीं कर सके। वहाँ बतलाया है कि आज्ञाका पालन नहीं करनेसे भरतजी मूर्च्छित हो गये। यहाँ आज्ञाका पालन करना उनके

लिये बहुत कठिन है। क्योंकि वे सीताको निर्दोष समझते थे, ऐसी निर्दोष सीताको वनमें अकेली कैसे छोड़ जाते। दूसरी बात यह कि भगवान्‌का वियोग होगा। यह सोच करके वह मूर्च्छित हो गये। बादमें श्रीरामचन्द्रजीने शत्रुघ्नसे कहा कि तुम सीताको छोड़ आओ तो शत्रुघ्नजी मूर्च्छित हो गये। फिर लक्ष्मणजी आये, उनसे कहा कि मैं तुम्हें एक काम कहता हूँ, उसका पालन करना। लक्ष्मणजीने सोचा कि क्या आवश्यकता पड़ गयी। मैं भगवान्‌की आज्ञाका कब उल्लंघन करता हूँ। किंतु भरत और शत्रुघ्नको मूर्च्छित देखकर उन्हें बड़ा भय हुआ कि क्या बात है? श्रीरामचन्द्रजीने कहा—कि मैं तुम्हें शपथ दिलाकर कहता हूँ कि मेरी आज्ञाका पालन तुम्हें अवश्य करना होगा। सीताको लेकर संसारमें मेरा लोकापवाद हो रहा है, मेरी निन्दा हो रही है इसलिये तुम सीताको ले जाकर वाल्मीकि-आश्रमके पास छोड़ आओ। लक्ष्मणको भगवान्‌के वचन बहुत कठोर मालूम दिये, पर उपाय क्या करें। भगवान्‌की आज्ञाका पालन तो करना ही होगा। अतः लक्ष्मणजीने यह काम किया।

प्रश्न उठता है कि भरत-शत्रुघ्न मूर्च्छित हो गये, पर लक्ष्मणजी मूर्च्छित क्यों नहीं हुए? बात यह है कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने पहले ही शपथ दिलाके कह दिया कि मेरी आज्ञाका पालन करना होगा। दूसरी बात यह थी कि लक्ष्मणजीके साथमें सीताजीने बड़ा भारी अनुचित व्यवहार किया था, इस कारण वे ऐसा व्यवहार सीताजीके साथ कर सके, नहीं तो नहीं कर सकते थे। जब श्रीरामचन्द्रजी मारीचको मारने चले गये थे उसी बीच मारीचने श्रीरामजीकी आवाजमें हा लक्ष्मण! हा लक्ष्मण! कहकर पुकारा था। तो सीताने कहा था कि

लक्ष्मण! तुम्हारे भाईपर बड़ा संकट आया है तुम जाओ, लक्ष्मणने कहा कि भाईपर संकट आ ही नहीं सकता, उस समय सीताने बड़े कठोर वचन कहे थे कि तू चाहता है कि तेरा भाई मर जाय तो मैं सीताको अपने घरमें रख लूँ। मैं अपने प्राणोंका त्याग कर दूँगी पर तेरे या भरतके साथमें कभी नहीं रहूँगी। यह सुनकर लक्ष्मणको बड़ा दुःख हुआ और वे वचन लक्ष्मणके हृदयमें चुभते ही रहे। अशोक-वाटिकामें सीताजीने हनुमान्‌के हाथ यह संदेश भेजा था कि हनुमान्! तुम लक्ष्मणजीसे कहना (यह बात वाल्मीकिरामायण और पद्मपुराणमें है) मेरा बड़ा अपराध हो गया था मैंने तेरेको अनुचित वचन कहे थे, उनका विचार तुम नहीं रखना। इस प्रकारके वचनोंसे लक्ष्मणजीका मन हलका हो गया था। फिर भी लक्ष्मणजी अपने हृदयको कठोर बना करके सीताजीको ले गये और वाल्मीकि ऋषिके आश्रममें दुःखित हृदयसे रोते-रोते छोड़ आये। परंतु भरत और शत्रुघ्न तो ऐसा भी नहीं कर पाये। वे तो मूर्च्छित ही हो गये।

अपने स्वामीकी आज्ञाका पालन न करनेपर या तो भरत और शत्रुघ्न-जैसी दशा होती है या कम-से-कम लक्ष्मण-जैसी दशा तो होनी ही चाहिये। लक्ष्मणने आज्ञाका पालन तो किया परंतु रोते हुए किया। दुःखित हृदयसे पालन किया। क्योंकि आज्ञा अनुचित थी, वह समझते थे कि सीता पवित्र हैं, शुद्ध हैं और इनको वनमें छोड़ना उचित नहीं। जब कि श्रीरामचन्द्रजीका यह ध्येय था कि मेरी प्रजा जिस कामसे नाराज हो वह काम मैं कैसे करूँगा। यद्यपि सीता निर्दोष है परंतु मैं सीताकी तरफ ध्यान दूँ कि प्रजाकी तरफ। उनका यह सिद्धान्त था कि जिस-किसी प्रकारसे प्रजाको संतोष हो

वही काम करना चाहिये। सीताकी तो बात ही क्या है, प्रजाके लिये वे तो अपने प्राणोंको भी त्याग सकते हैं। सब कुछ त्याग सकते हैं। इसीलिये अब भी जहाँका शासन अच्छा होता है, प्रबन्ध बढ़िया होता है तो कहा जाता है कि वहाँ तो रामराज्य है। रामके राज्यमें वहाँ ऐसी बातें थीं। तो यह दिखलाया गया कि जब श्रद्धा होती है तब ऐसा व्यवहार होता है। श्रद्धा होनेपर मनुष्य सब कुछ कर सकता है।

भरतजीका भगवान् रामके प्रति बड़ा प्रेम था, मगर साथमें बड़ी भारी श्रद्धा भी थी। इसीलिये भरतजी भगवान्‌से एक पल भी अलग नहीं रहना चाहते थे। किंतु भगवान्‌की आज्ञा हुई तो कर्तव्य समझकर वे चौदह वर्षतक भगवान्‌से अलग रहे और उसके बादमें जब भगवान् मिले हैं फिर भरतजी सदा भगवान्‌के पास ही रहे। शत्रुघ्नजी भी लवणासुरको मारने चले गये और जब अश्वमेध यज्ञ हुआ तो घोड़ेकी रक्षाके लिये भी चले गये। और लक्ष्मणजी भी अपने पुत्रोंको राज्य देनेके लिये चले गये, किंतु भरतजी तो सदा भगवान्‌के चरणोंमें ही रहे। भरतजीका बहुत उच्चकोटिका भाव था। यदि कहो कि भरतजी ननिहाल कैसे गये थे? तो उस समय इतना उच्चकोटिका भाव नहीं था। भरतजीने आकर जब सुना कि श्रीराम मेरे लिये राज्य छोड़कर वनको चले गये। तुलसीकृत रामायणमें लिखा है कि श्रीरामचन्द्रजी कैकेयी मातासे कहते हैं कि पिताकी आज्ञा है, आपकी सम्मति है और मेरे प्यारे भाईको राजगद्दी मिलेगी तो मेरे लिये इससे बढ़कर सौभाग्यकी बात और क्या हो सकती है। श्रीरामचन्द्रजीके इन शब्दोंने भरतजीको बहुत प्रभावित कर दिया। रामजीका और भी जो व्यवहार है वह भरतजीको प्रभावित करनेवाला है। इस वास्ते

भरतजी महाराजका भाव बदल गया।

भरतजी महाराजने जब ननिहालसे वापस आ करके अयोध्यामें यह चर्चा सुनी कि भगवान् राम वन चले गये और भगवान् रामके विषयमें जो-जो बातें सुनीं उनका भरतजीपर बहुत प्रभाव पड़ा। कौसल्याने कहा—बेटा भरत! जब तेरा ज्येष्ठ भ्राता श्रीराम वनको गया था उस समय यह कह गया था कि माँ! तू चिन्ता मत कर, मेरा भाई भरत मुझसे बढ़कर तेरी सेवा करेगा। वही बात अब मैं देख रही हूँ। भरत सोच रहे हैं कि भगवान् रामका मेरे ऊपर कितना विश्वास है, वे समझते हैं कि भरत मुझसे भी बढ़कर व्यवहार करेगा तो मेरा वैसा ही व्यवहार होना चाहिये जैसा भगवान्का निश्चय है। राजगद्दीपर बैठनेके लिये गुरुजीने बहुत कहा और माता कौसल्याने भी कहा कि भरत! जब गुरुजी कह रहे हैं तो तुम मान लो। किन्तु भरतने कहा कि यह हमारे रघुकुलकी रीति है जो बड़े हैं वे राज्य करते हैं। ज्येष्ठ भ्राता रामका यह अधिकार है, मेरा नहीं। मुझे राजा बनानेसे न मेरा ही हित है, न आपलोगोंका और न प्रजाका ही हित है। आपलोग जो कुछ भी कहते हैं मेरे हितकी बात कहते होंगे, किंतु मुझे इसमें हित नहीं दीखता। और वह बात मेरी समझमें नहीं आती है इसलिये मैं आपकी बातको काममें नहीं ला सकता। इसे माननेमें मैं लाचार हूँ। इस वास्ते आपको यह अपराध क्षमा करना होगा। भरतका कैसा भाव है। भगवान् श्रीरामचन्द्रका बर्ताव सुन-सुनकर भरतका भाव बदल गया। सब कोई भरतजीको साधु-साधु कहने लगे और यह बात प्रसिद्ध हो गयी कि यदि भरतजीका जन्म नहीं होता तो भगवान्के प्रेम-भावको संसारमें कौन प्रकट करता। भरत जब भरद्वाज ऋषिके आश्रममें गये तब भरद्वाज

ऋषिने भी कहा कि भरत! तुम धन्य हो, आज मेरा आश्रम पवित्र हो गया। सारी दुनिया भगवान्‌को भजती है और राम तुमको भजते हैं। मैंने बड़ा भारी तप किया था, इसके फलस्वरूप श्रीरामके दर्शन हुए और रामके दर्शनका प्रभाव है जो तुम्हारा दर्शन मिला। तुम एक रात्रि रहकर हमारे इस आश्रमको पवित्र करो। भरतजीके उस भावको सुनकर सुननेवालोंके हृदयमें कितना आनन्द होता है। भगवान् रामचन्द्रजीके बर्ताव और व्यवहारको सुनकर भरतजीका ऐसा व्यवहार-बर्ताव हो गया था। रामचन्द्रजीने कैकेयीके प्रति कितने मधुर और प्रेमके वचन कहे जिसे सुनकर कैकेयीका हृदय भले ही न बदला परंतु जिसके हृदयमें थोड़ा भी प्रेम-श्रद्धा है उसका हृदय बदल ही जाता है। सुना जाता है कि बादमें भरतके बर्तावको देखकर कैकेयीका भी हृदय बदल गया। अध्यात्मरामायणमें यह बात आती है कि जब चित्रकूटमें सब कोई मिलने गये थे तो कैकेयीने एकान्तमें भगवान् रामसे पश्चात्ताप करते हुए कहा कि मुझसे भारी गलती हुई है जिसके कारण तुम्हें वनमें आना पड़ा। भगवान् रामने कहा कि माँ! आप इसका विचार न करें। यह सब काम मेरी इच्छासे ही हुआ है। मेरी ही प्रेरणासे सब काम हुआ है। आपका कोई दोष नहीं है। आपको तो मैं केवल निमित्तमात्र समझता हूँ। कैकेयीने कहा—बेटा! मेरा उद्धार कैसे होगा? श्रीरामने कहा—माँ! आप चिन्ता न करें, जब सब मेरी इच्छासे हो रहा है तो मेरी कृपा, मेरी भक्तिके प्रभावसे आप उत्तम गतिको प्राप्त होंगी। ऐसा भाव उस जगह प्रकट होता है तो समझना चाहिये कि भगवान् रामचन्द्रजीका कितना उच्चकोटिका व्यवहार और भाव है। भरतजी प्रत्यक्ष इस बातको देख रहे हैं। भगवान् रामके व्यवहार

और बर्तावको देखकर भरतजीका मन बदल गया, जीवन बदल गया। यदि शुरूमें ऐसे बर्तावका प्रसंग आता तो भरतजी कभी ननिहाल नहीं जा सकते। जो मनुष्य अच्छा व्यवहार करता है उसका प्रभाव दूसरोंपर अच्छा पड़ता है फिर रामजीके व्यवहारका भरतजीपर असर पड़े तो कहना ही क्या? उनके व्यवहारका तो शत्रुओंपर भी असर पड़ता था। जो उच्चकोटिके पुरुष होते हैं उनके व्यवहारका असर भी लोगोंपर पड़ता है। तो भगवान्‌का कहना ही क्या? हमलोगोंको भी उच्चकोटिका व्यवहार करना चाहिये। यदि कहें कि अच्छे पुरुषोंके वचनोंका असर पापी पुरुषपर भी पड़ता है तो इसका दृष्टान्त क्या है? तो ऐसे बहुत-से दृष्टान्त शास्त्रोंमें मिलते हैं। महाभारतमें एक कथा आती है—एक समय दुर्योधन बहुत भारी सेना लेकर पाण्डवोंको मारनेके लिये वनमें गया था। दुर्योधनका यह बर्ताव देवतालोग जान गये। इन्द्रने यह बात सभामें पेश की कि कोई ऐसा पुरुष है जो दुर्योधनको जीते-जी पकड़कर ले आये? वनमें पाण्डव लोग तपस्या करते हैं उनको दुःख देनेके लिये दुर्योधन सेना लेकर जा रहा है, तो चित्रसेनने बीड़ा उठाया और कहा कि मैं यह काम करनेके लिये तैयार हूँ और वह सेना लेकर चल पड़ा। जब दुर्योधन सेना लेकर आया तो उसका मुकाबला किया और दुर्योधनकी सेनाका विध्वंस कर दिया तथा दुर्योधनको बाँधकर ले आया। बची हुई सेना भाग गयी। भागे हुए मन्त्रियोंमेंसे कुछ लोग मिलकर युधिष्ठिरके यहाँ पहुँचे और जाकर बोले कि 'महाराजाधिराज दुर्योधन आपका दर्शन करने आ रहे थे तो चित्रसेन गन्धर्व उनपर आक्रमण करके आपके भाईको जीतकर बाँधकर ले गया है।' यह सुनकर राजा युधिष्ठिरने अर्जुन और भीमसे

कहा कि तुम दोनों जाओ और उन्हें छुड़ा करके लाओ। मैं खुद जाता, पर मैं अनुष्ठानके लिये बैठ गया हूँ। वे अपनी आत्माके कल्याणके लिये अनुष्ठान कर रहे थे। भीमने कहा—भाई साहब! क्या ऐसी बात हो सकती है कि दुर्योधन आपका दर्शन करनेके लिये आये? युधिष्ठिर बोले—इस विषयमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। तब अर्जुनने कहा कि मैं खुद शस्त्र छू करके प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं दुर्योधनको अवश्य छुड़ाकर लाऊँगा। यदि गन्धर्वराज समझाने-बुझानेपर दुर्योधनको छोड़ देंगे तब तो ठीक है नहीं तो पृथ्वी माता गन्धर्वराजका रक्तपान करेगी। यह प्रतिज्ञा करके भीमसे कहा कि भाई साहब! चलें। महाराजकी आज्ञाका पालन करना ही हमारा परम धर्म है। दोनों भाई गये और भयंकर युद्ध करके दुर्योधनको छुड़ाकर ले आये और लाकर दुर्योधनको सामने खड़ा कर दिया, जैसे दुर्योधन बलिका बकरा हो, वह जमीन कुरेदने लगा और गर्दन नीची करके विचार करने लगा कि इस जीनेसे मेरा मरना ही अच्छा था किंतु अब कोई उपाय नहीं है। युधिष्ठिरने देखा कि इसे बहुत दुःख हो रहा है तो वे बोले—भाई दुर्योधन! तुम्हारे भाई लोग तुम्हें खोज रहे हैं, तुम्हें उनके पास जाना चाहिये, महाराजकी आज्ञा पा करके दुर्योधन वहाँसे भाइयोंके पास आया। वहाँ देखा कि कोई नहीं है। तब दुर्योधनने निश्चय कर लिया कि मैं अनशन-व्रत करके प्राणोंका त्याग कर दूँगा। अब जीवनमें कभी पाण्डवोंसे लड़ाई नहीं करूँगा। उसके बाद दुःशासन और कर्ण आदि आये और बोले कि आपको किसने छुड़ाया। दुर्योधनने कहा—मुझे पाण्डवोंने छुड़ाया। वे बोले—आपके मुखपर लज्जा क्यों? पाण्डवोंका तो कर्तव्य ही था। आप राजा हैं, वे आपकी प्रजा हैं, उनका धर्म है कि वह

राजाकी हर तरह मदद करें। इसमें लज्जाकी कौन-सी बात है। दुर्योधनने कहा कि मैंने निश्चय कर लिया है कि कभी पाण्डवोंके साथ युद्ध नहीं करूँगा। अपने प्राणोंका त्याग अनशन-व्रतद्वारा कर दूँगा। मैं संसारमें मुँह दिखानेके लायक नहीं हूँ। वे मेरा कितना उपकार करते हैं और मैं उनका अपकार करता हूँ, क्या मैं दुनियामें मुँह दिखानेलायक हूँ। ऐसा भाव था पर उसने कहा नहीं। वह अनशन-व्रत करने बैठ गया। जब आँखें बंद करके बैठा तो स्वप्न-सा आया। स्वप्नमें राक्षसलोग आये और कहने लगे कि तुम तो हमारी तरफसे भेजे गये हो, साधु कैसे बन गये। तुमको पाण्डवोंके साथ युद्ध और लड़ाई करनी चाहिये। इसके बाद आँख खुलनेपर अपने स्वप्नकी बात कही। सब ऐसा चाहते ही थे। वे बोले—हम आपको पहले ही यही कह रहे थे। बहला-फुसलाकर उसे फिर वैसा ही कर दिया। कहनेका अभिप्राय यह है कि ऐसे नीच, पाखण्डी, पापी दुर्योधनपर भी महाराज युधिष्ठिरके बर्तावका ऐसा असर पड़ा। अच्छे व्यवहारका असर असुरोंपर भी पड़ता है। इसलिये हमें सब लोगोंके साथ अच्छा व्यवहार करना चाहिये। यदि कहो कि कोई आदमी हमलोगोंके साथ नीचताका व्यवहार करता है, उद्दण्डता करता है, गालियाँ देता है, अनिष्ट करना चाहता है, हर एक प्रकारसे अनिष्ट भी करता है, आखिरकार हम उसके साथ अच्छा और सद्व्यवहार कैसे करें? इसमें आप सबको ऐसा समझना चाहिये कि जो गालियाँ देता है, अनिष्ट करता है, वह दयाका पात्र है, क्योंकि वह अज्ञानी है। यदि उसे ज्ञान होता तो वह ऐसा बर्ताव नहीं करता। आपलोगोंको उसपर ऐसी दृष्टि नहीं करनी चाहिये। वह तो दयाका ही पात्र है। उसपर तो दया

ही करनी चाहिये। आपका कोई लड़का पागल हो जाय और पागल हो करके आपको गालियाँ दे, पत्थर फेंके, मारने दौड़े, आपका अनिष्ट करनेपर तुल जाय तो क्या उस लड़केका आप गला काटेंगे या मारेंगे। आपको दया ही करनी पड़ेगी। आप समझेंगे कि पगला है यह समझता नहीं है। यदि कोई बीमार आदमी हो और उसे सन्निपात हो गया। सन्निपातमें तो आदमी बहकता है, अंडबंड चाहे जो कुछ कह देता है। वैद्यको भी गालियाँ देता है, मारने दौड़ता है। क्या वैद्य उसको विष दे करके मार देता है, नहीं। वैद्य समझता है कि यह बेचारा परवश है। एक प्रकारसे अज्ञानवश ऐसा कर रहा है। वैद्य उसपर दया करता है। उसकी बीमारी दूर हो जाय ऐसा प्रयत्न करता है। इसी प्रकारसे हमलोगोंको यह समझना चाहिये, यह क्रोधके वशीभूत है, अज्ञानके वशीभूत है। इस परिस्थितिमें यह दयाका पात्र है। यह भाव हमको करना चाहिये। न कि वह भाव करना चाहिये कि हम उसका प्रतीकार करें। यदि आप समझते हैं कि जो यह गाली देता है, मारने दौड़ता है, अन्याय करता है तो तुम भी उसी प्रकारसे उसका प्रतीकार करते हो तो तुम भी अन्यायी समझे जाओगे। लोग तुमको वैसा समझेंगे जैसा तुम उनको समझ रहे हो। तुम अच्छे पुरुष हो तो तुमको अच्छा व्यवहार करना चाहिये। तुमको तो उसके साथ साधुका व्यवहार करना चाहिये। एक आदमी अगर नीच कार्य कर रहा है तो हमें नीच कार्य नहीं करना चाहिये। एक आदमी हमको गालियाँ दे तो बदलेमें हमको गालियाँ नहीं देनी चाहिये। गालियाँ देनेसे जबान गंदी होती है। वह आदमी तो अपने अज्ञानवश अपनी जबान गंदी कर रहा है, हम भी उससे बुरी शिक्षा लेकर अपनी जबान क्यों गंदी करें।

जो आदमी समझदार होता है वह उसके साथ अच्छा व्यवहार करता है। कोई बुरा व्यवहार करता है उसके साथ भी जो अच्छा व्यवहार करता है वह श्रेष्ठ पुरुष है। सबसे उत्तम पुरुष वही है जो अपने साथमें बुराई करनेवालेके साथ भी अच्छा व्यवहार करता है। मध्यम श्रेणीका पुरुष वह है जो अपने साथमें बुराई करता है वह बदलेमें उसके साथ न बुराई करता है और न भलाई करता है, चुप रहता है। वह आदमी कनिष्ठ पुरुष है जो अपने साथमें भलाई करे, उसके साथमें भलाई करे, जो बुराई करे, उसके साथ बुराई करे। यह बात तो कुत्तेमें भी देखनेमें आती है। एक कुत्ता दूसरेको भूँकता है तो दूसरा भी भूँकने लगता है। एक-दूसरेको काटने लगता है तो वह भी काटने लगता है। एक-दूसरेको चाटता है तो दूसरा भी चाटने लगता है। तो भलाई करनेवालेके साथमें भलाई और बुराई करनेवालेके साथमें बुराई तो कुत्ते भी करते हैं और जो आदमी भलाई-ही-भलाई करता है और दूसरा आदमी उसके साथ बुराई-ही-बुराई करता है उसके लिये शास्त्र कहता है कि वह किस श्रेणीका आदमी है, उसे हम राक्षस कहें, पिशाच कहें या महातामसी। उनके लिये हमारे पास वचन नहीं हैं, किन वचनोंसे उनका सम्बोधन करें। वह तो महानीच है, उन सब बातोंको समझकर हमको सबके साथमें भलाई करनी चाहिये और अपने साथमें कोई बुराई करे तो उसके साथमें भी भलाई करनी चाहिये। अपना जो स्वभाव है उसमें कभी कमी नहीं आने देनी चाहिये।

प्रह्लादका अनिष्ट करनेके लिये उसके पिता तुले हुए थे। आजीवन उसका अनिष्ट करते रहे। उसे मारनेका प्रयत्न करते रहे। अनेक अत्याचार किये। यह अन्याय था, किंतु प्रह्लादके

हृदयमें कभी यह भाव नहीं आया कि पिताजी मेरे साथ अन्याय कर रहे हैं तो मैं भी इसका बदला लूँगा। गुरुपुत्र षण्डामर्कने कृत्याको पैदा करके कहा कि तुम प्रह्लादको मार डालो। किंतु कृत्या प्रह्लादको कब मार सकती थी। उसने लौटकर गुरुपुत्रोंको मार दिया। उनके मर जानेपर फिर प्रह्लादने परमात्मासे प्रेरणा की कि यदि मेरे हृदयमें उनके प्रति द्वेषका भाव नहीं है, बदला लेनेका भाव नहीं है, वैरका भाव नहीं है, ईष्याका भाव नहीं है तो गुरुपुत्र उस सत्यके प्रभावसे जीवित हो जायँ। गुरुपुत्र जीवित हो उठे।

खयाल करना चाहिये कि प्रह्लादका भाव कितना उच्चकोटिका था। प्रह्लादजीसे भगवान्‌ने वरदान माँगनेको कहा, किंतु प्रह्लादने इनकार कर दिया। आखिरमें यही माँगा कि मैं आपसे यही चाहता हूँ कि मेरे हृदयमें किसी प्रकारकी कामना न रहे। माँगनेकी इच्छा ही न हो। बादमें भगवान् उसके भावको देखकर खुश हो गये और बोले कि बेटा! मेरे सुखके लिये अर्थात् मेरे संतोषके लिये तुमको कुछ माँगना चाहिये। तो प्रह्लादजी क्या माँगते हैं। प्रह्लादजी कहते हैं कि मेरे पिताजी आपकी भक्तिमें बड़ी बाधा डालते रहे और आपकी भक्तिमें जो बाधा डालता है उसकी बड़ी दुर्गति होती है, मैं आपसे यही वरदान चाहता हूँ कि मेरे पिताका बड़ा भारी अपराध है। आप उनके अपराधको क्षमा कर दें। उनको सद्‌गति दे दें। भगवान्‌ने कहा कि बेटा! तू जिससे पैदा हो गया उसकी सद्‌गतिमें कोई संदेह है क्या? तुम जब इनके यहाँ पैदा हो गये तभी इनका कल्याण हो गया। तुम्हारे प्रभावसे इनका ही नहीं इक्कीस पीढ़ीका उद्धार हो गया। तो खयाल करना चाहिये कि प्रह्लादका कैसा भाव था। प्रह्लादके भावके प्रभावसे ही

अग्नि शान्त हो गयी। अग्निमें प्रह्लादको डाल दिया गया, अग्नि प्रज्वलित हो रही है और प्रह्लादजी उसमें बैठे हैं, किंतु उनका कोई अंशमात्र भी नहीं जला, अंगका तो जलना दूर रहा वे हँस रहे थे। यह देख करके हिरण्यकशिपुने पूछा कि प्रह्लाद! यह अग्नि तेरे शरीरको क्यों नहीं जलाती? प्रह्लादने कहा—पिताजी! सब प्रभुकी कृपा है, अग्नि मुझे शीतल जलके समान प्रतीत हो रही है।

नारायण! नारायण!! नारायण!!!

आत्मोद्धारके लिये अपनी बुद्धिके अनुसार साधन करना

भगवान् श्रीकृष्णजीने "मनुष्योंका उद्धार कैसे हो" इस विषयमें गीतामें कहा है—मनुष्य स्वयं ही अपने-आपका पतन करनेवाला और स्वयं ही अपने-आपका उद्धार करनेवाला है:—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

(गीता ६। ५)

मनुष्यको अपनी आत्माका उद्धार अपनी आत्माके द्वारा करना चाहिये। अपने-आपका पतन नहीं करना चाहिये। जीती हुई इन्द्रियाँ-मन मित्रके समान हैं और जो नहीं जीती हुई हैं वे अपने लिये शत्रुके समान हैं। अपना ही मन और अपनी ही इन्द्रियाँ यदि अपने अधीन हैं, अपने काबूमें हैं तो अपने लिये वे मित्रके समान उपकार करनेवाले हैं अन्यथा वे शत्रुके समान काम करनेवाले हैं। सिद्धान्त यह है कि मनुष्यको मन और इन्द्रियोंको अपने काबूमें करना चाहिये। अपने कंट्रोलमें रखना चाहिये। जो मनुष्य स्वयं अपने मन और इन्द्रियोंको कंट्रोलमें नहीं रख सकेगा, वह दुनियाको क्या कंट्रोल करेगा? हर एक मनुष्यको अपने मन और इन्द्रियोंके ऊपर कब्जा करना चाहिये। काम वह करना चाहिये जिससे अपनी आत्माका उद्धार हो। जिससे पतन हो वह काम कभी नहीं करना चाहिये। जिस कामको आप बुरा समझते हैं, चोरी है, कपट है, झूठ है, व्यभिचार है, हिंसा है, इसी प्रकार जिसे आप बुरा समझते हैं उसे कभी नहीं करना चाहिये। यदि बुरा समझकर आप

बुरा काम करते हैं तो खुद ही आप अपनी आत्माका पतन कर रहे हैं।

जिस कामके विषयमें आपने यह निर्णय कर लिया है कि यह काम खराब है और ऐसा समझ करके उस खराब कामको आप खुद ही करते हैं तो आप अपनी ही दृष्टिसे गिर रहे हैं। जिस कामको आप उत्तम समझते हैं, श्रेष्ठ समझते हैं, अच्छा समझते हैं जैसे सदाचार है, सद्गुण है, ईश्वरकी भक्ति है, परोपकार है, ज्ञान-वैराग्य आदि है उसे उत्तम समझ करके भी यदि आप इसके लिये प्रयत्न नहीं करते हैं तो आप ही अपने उद्धारके विषयमें बाधा पहुँचा रहे हैं। सिद्धान्त यह है कि जिस कामको आप अच्छा समझते हैं उसे करना चाहिये और जिसे आप बुरा समझते हैं उसे नहीं करना चाहिये। इस विषयमें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये इसका निर्णय देनेवाला शास्त्र ही प्रमाण है:—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

भगवान् श्रीकृष्णजी अर्जुनको गीताके १६वें अध्यायके २४वें श्लोकमें उपदेश देते हैं कि हे अर्जुन! कर्तव्य और अकर्तव्यके विषयमें शास्त्र ही प्रमाण है। यह बतलाया है कि यह करना कर्तव्य है और यह करना अकर्तव्य है। शास्त्रद्वारा इस प्रकारसे जानकर तुम्हारे लिये जो कर्तव्य है उसका पालन करना उचित है, योग्य है। यदि कहो कि हम शास्त्रको नहीं मानते तो जिसके ऊपर आपका विश्वास हो जैसे संसारमें जो अच्छे पुरुष हैं, महात्मा पुरुष हैं, उनकी बात मानकर उनके अनुसार अपना निर्णय करके, अपना मार्ग तय करके उसके अनुसार चलना चाहिये। और यदि यह कहो कि हमारा न तो किसी

मनुष्यके ऊपर विश्वास है न शास्त्रके ऊपर विश्वास है तो ऐसी स्थितिमें जब तुम्हारा शास्त्रपर और किसी पुरुषपर विश्वास नहीं है तो अपने ऊपर तो विश्वास है न? यदि है तो अपनी बुद्धिपर ही विश्वास कीजिये। किसीपर तो विश्वास करना ही होगा, नहीं तो चलेंगे कैसे। इसपर कहें—हाँ, अपनी बुद्धिपर हमको विश्वास है। जिसे हम ठीक समझते हैं उसे करते हैं जिसे ठीक नहीं समझते उसे नहीं करते तो यह तो बहुत उत्तम कल्याणका रास्ता है। संसारमें जितने-जितने आचरण हैं, गुण हैं, भाव हैं, उनके विषयमें विचार करें और विचार करके उनमें एक ग्रहणके योग्य और एक त्यागनेके योग्य इस प्रकार दो विभाग कर दें। तब उनपर इस प्रकार विचार करें जैसे एक तो सत्य बोलना और एक मिथ्या बोलना। आप अपने विचारके द्वारा अपनी बुद्धिसे ही काम लें तो सत्य बोलना आप श्रेष्ठ समझते हैं या झूठ बोलना? तो यदि कहो कि हम सत्य बोलना श्रेष्ठ समझते हैं और झूठ बोलना खराब समझते हैं तो सत्यको इस तरफ रखें और झूठको दूसरी तरफ। झूठ बुरा है तो बुरी वस्तुको बाँयें हाथकी तरफ रखें और अच्छी वस्तुको दाँयें हाथकी तरफ। एक तरफ लिख दें सत्य बोलना अच्छा है, दूसरी तरफ लिख दें कि झूठ बोलना खराब है। अब दूसरी बात पूछी जाती है—ब्रह्मचर्यका पालन करना अच्छा है या व्यभिचार करना अच्छा है? इनमें आप क्या श्रेष्ठ समझते हैं? तो कहा—ब्रह्मचर्यका पालन करना उत्तम समझते हैं। व्यभिचारको बुरा समझते हैं। तो व्यभिचारको यहाँ बाँयें तरफमें रखें और ब्रह्मचर्यको दाहिने तरफ। इसी प्रकार हिंसा करना अच्छा समझते हैं या दूसरोंका उपकार करना? तो कहा—उपकार करना मैं अच्छा समझता हूँ,

किसीकी हिंसा करना, किसीको दुःख देना मैं बुरा समझता हूँ। अच्छा तो हिंसाको वहाँ रखें, उपकारको यहाँ रखें। किसी भी बातकी माँग, कामना, इच्छा किसीसे भी ईश्वरसे, देवतासे, मनुष्यसे याचना करना उत्तम समझते हो या नहीं? तो बोले—याचना न करना उत्तम समझते हैं। किसी भी बातकी कामना करना, इच्छा करना नीचे दर्जेका काम है। तो कामनाको वहाँ रखें और याचना न करना यहाँ रखें। आप क्रोध करना अच्छा समझते हैं कि क्षमा करना अच्छा, तो कहा—क्षमा उत्तम बात है, क्रोध न करना उत्तम बात है। क्रोध करना बुरा है तो वहाँ रखें और क्षमा करना यहाँ रखें। लोभके वशीभूत होकर दूसरेके धन, दूसरेके हक, दूसरेके सत्त्वपर अपना अधिकार जमाना ठीक समझते हो या लोभका त्याग करना अच्छा समझते हो तो बोले लोभका त्याग करना अच्छा। तो लोभ करना वहाँ रखें और दूसरेके धनका किसी भी हालतमें न लेना यहाँ रखें, इस प्रकारसे जितने पदार्थ हैं उनका ऐसे ही दो विभाग करते जायँ। एक अच्छी श्रेणीमें रखें और एक खराब श्रेणीमें। जब इनका समूह बन जाय तो आप जिसे अच्छा समझते हैं उसका नाम दैवी सम्पदा रख दें और जिसे खराब समझते हैं उसका नाम आसुरी सम्पदा रख दें। अथवा जिसे आप अच्छा समझते हों उसका नाम धर्म रख दें, न्याय रख दें और जिसे आप खराब समझते हों उसका नाम पाप रख दें। भाषा अपने एक संकेतके वास्ते बना लें। ऐसा बना करके मनमें यह निश्चय कर लें कि पाप कभी नहीं करना है। जिसे बुरा समझते हैं उसे हमी करेंगे तो हमारा ही पतन होगा। जिसे आप बुरा सबके लिये बुरा समझते हैं तो आपके लिये भी बुरा है न? दूसरेकी यदि वह हानि करेगा तो आपके

लिये भी हानि करेगा। तो बस, जिसे आप बुरा समझते हों उसे कभी नहीं करना चाहिये। जिसे आप उत्तम समझते हैं उसका पालन करना चाहिये। बस, यही अपनी उन्नतिका मार्ग है, उत्थानका मार्ग है और यही पतनका मार्ग है कि जिसे बुरा समझते हैं उसे तो करते हैं और जिसे अच्छा समझते हैं उसे नहीं करते। यही अपने-आपके द्वारा अपना पतन करना है। अब दूसरी बात आपको बतलायी जा रही है। जितने उत्तम गुण हैं, उत्तम भाव हैं वे सभी प्रत्यक्ष हमारे लिये लाभदायक हैं। उत्तम गुण जैसे—क्षमा, दया, शान्ति, समता, संतोष, सरलता, ज्ञान, वैराग्य—ये सब उत्तम पदार्थ हैं, उत्तम भाव हैं। इनको अमृतके समान समझकर इनका सेवन करना चाहिये, जैसे उत्तम आचरण है—परोपकार करना, तीर्थ करना, व्रत करना, उपवास करना, यज्ञ करना, दान देना, तप करना—ये सब उत्तम हैं। अतः इनको अमृतके समान समझकर इनका सेवन करना चाहिये। और भगवान्‌का भजन करना, ध्यान करना, भगवान्‌को नमस्कार करना, उनकी सेवा करना, उनकी पूजा करना, उनकी आज्ञाका पालन करना—ये सब उत्तम बातें हैं। इनको अमृतके समान समझकर इनका सेवन करना चाहिये और इनके जो विपरीत हैं उनका त्याग करना चाहिये। जैसे—झूठ बोलना, चोरी करना, व्यभिचार करना, हिंसा करना, जुआ खेलना आदि जितने भी बुरे पदार्थ हैं, बुरे कर्म हैं, बुरे भाव हैं, उन्हें नहीं करना चाहिये। बुरे भाव जैसे—काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार, राग, द्वेष, ईर्ष्या, ममता आदि ऐसे जितने भी बुरे भाव हैं उनको विषके समान समझकर कतई त्याग देना चाहिये। जो दुर्गुण हैं, दुराचार हैं, दुर्व्यसन हैं—आलस्य है, प्रमाद है, उन्हें भी त्याग देना चाहिये। संसारके भोग भी

आगे जाकर दुःख देनेवाले हैं। उन्हें भी त्याग देना चाहिये।

जिसे हम अच्छा समझते हैं पर दूसरे लोग उसे खराब समझते हैं। जिस विषयमें बहुत-से भाइयोंका यह मत है कि यह बात बुरी है, खराब है, हमारेमें यह बुरी चीज है, किंतु हमें दीखती नहीं और यदि दूसरे आदमी कहते हैं कि यह आपकी बुरी आदत है तो उनका सत्कार करनेके लिये उनकी बात मान करके उनको आदर देना चाहिये, यह नहीं कि हम जो समझते हैं वही ठीक है और दूसरे जो समझते हैं वह गलत है। जब पाँच आदमी—दूसरे भाई जो अच्छे आदमी हैं, बुद्धिमान् हैं, समझदार हैं, वे यदि हमारा दोष कायम करते हैं कि "यह तुम्हारा दोष है" यद्यपि हमारा दोष नहीं भी प्रतीत हो तो भी उनके कहनेसे उसे अपना दोष मानकर उसका संशोधन करना चाहिये। नहीं तो फिर हमारा सुधार कैसे होगा, हमको अपना दोष दीखेगा नहीं। कोई पूछेगा तो हम उस समय उसकी सफाई देंगे और उससे हमारा पतन ही होगा, कोई लाभ नहीं होगा। हमारा सुधार नहीं होगा, बल्कि पतन ही होगा। मनुष्यको दूसरोंका दोष अधिक दीखा करता है, अपना नहीं और जो अपना दोष सुधारना चाहते हैं उनको अपना दोष दीखता है, दूसरोंका नहीं। हमारे ऊपर यदि कोई क्रोध करता है या हम किसीपर क्रोध करते हैं तो इसमें एक नरकका मार्ग है और एक मुक्तिका मार्ग है। नरकका मार्ग यह है कि यदि किसीने मेरे ऊपर क्रोध किया और हम उसका दोष कायम करते हैं कि देखो साहब यह कितना बदमाश है कि बिना कसूर मेरे ऊपर क्रोध किया और यदि कहीं हमें क्रोध आ गया तो हम कहते हैं कि देखो साहब यह कितना बुरा आदमी है हमको ऐसे दुःखकी

बात कही कि जिससे मुझे क्रोध आ गया। हमारे क्रोधका यही कारण हुआ। इसको ऐसी बात क्यों कहनी चाहिये जिससे मुझे क्रोध आ जाय। उसे क्रोध आया तो उसमें भी उसका ही दोष और मुझे क्रोध आया तो भी उसका ही दोष। हमने अपनी सफाई दी और उसका दोष कायम कर दिया। ठीक है, कायम कर तो दिया किंतु इससे न तो हमारा ही सुधार हो सकता है और न उसका ही। यह तो नीचे दर्जेका मार्ग है। उसका हमने दोष कायम किया तो वह स्वीकार नहीं करेगा। मुझे क्रोध आया उसमें भी हमने दूसरेका दोष कायम किया और उसे क्रोध आया, उसमें भी दूसरेका दोष कायम किया किंतु वह स्वीकार नहीं करता तो इससे न तो उसका सुधार हो सकता है और न हमारा सुधार हो सकता है। यह तो अपने पतनका मार्ग है। नरकमें ले जानेवाला मार्ग है। मुक्तिका मार्ग नहीं है।

प्रश्न होता है कि मुक्तिका मार्ग क्या है? मुक्तिका मार्ग यह है कि मेरे ऊपर यदि किसीको क्रोध आ गया तो हम उससे प्रार्थना करें कि आपको जो क्रोध आया मेरे बर्तावके ऊपर आया न? मेरी गलती आप बता दें, जिससे भविष्यमें मैं आपके क्रोधका कारण न बनूँ। अपना सुधार कर लूँ। क्योंकि आपको क्रोध आया। आपके मनके विरुद्ध कोई कार्रवाई हुई तभी क्रोध आया न। आप मुझे समझा दें और समझा दिया करें तो उसमें सुधार हो सकता है। आपको क्रोध आया और उसमें मैं कारण हूँ। मैं अपना अपराध मानता हूँ कि मैं आपके क्रोधका कारण बना, इसलिये मैं अपना सुधार चाहता हूँ। आप समझा दें भविष्यमें मैं ऐसी कोशिश करूँ जिससे मैं आपके क्रोधका कारण न बनूँ। यह जो भाव

है वह आत्माको शुद्ध करनेवाला, आत्माका कल्याण करनेवाला है। अपनी गलती मान लेनेपर वह खुद आपसे कहेगा कि मुझसे गलती हो गयी, मुझे क्रोध आ गया। आपका कोई कसूर नहीं है। यदि मैं कहूँ कि नहीं, मेरा कसूर तो जरूर है, आपके क्रोधका कारण मैं ही तो बना और मुझे किसीपर कहीं क्रोध आ गया तो कहूँ—अरे भैया, मेरा स्वभाव है, मुझे क्रोध आ गया, आप क्षमा करें, आगेके लिये मैं खयाल करूँगा। मुझे क्रोध आ जाय तो भी मेरा कसूर, मेरी गलती और यदि आपको मेरे ऊपर क्रोध आ जाय तब भी मेरी गलती—इस प्रकारसे जब मेरा भाव होगा तो मैं भगवान्‌का प्यारा बनूँगा और भगवान्‌को प्राप्त हो जाऊँगा। भगवान्‌ने गीतामें अपने भक्तोंके ये ही लक्षण बतलाये हैं—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥

(१२।१५)

जिससे किसीको उद्वेग न हो, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्यारा है। खयाल रखना चाहिये कि मेरे द्वारा किसीको उद्वेग, क्रोध या दुःख न हो। यदि मेरे द्वारा दूसरोंको क्रोध, उद्वेग, दुःख होता है तो भगवान् कहते हैं कि वह मेरा भक्त नहीं, मेरेको प्यारा नहीं।

मेरे द्वारा दूसरोंको उद्वेग, दुःख, क्रोध न हो उसके लिये अपने-आपको सँभाले, वह कुछ विचार करे कि किस प्रकारकी चालसे, किस प्रकारके बर्तावसे दूसरोंको मेरे द्वारा उद्वेग न हो, दुःख न हो। जब दूसरोंकी क्रिया देखकर, दूसरोंके बर्तावको देखकर भी जिसके मनमें उद्वेग न हो, कोई अपने मनके विपरीत कितना ही कुछ भी क्यों न करे, पर अपने

मनमें उद्वेग न हो, दुःख न हो, भय न हो, क्रोध न हो, किसी प्रकारका विकार न हो तो भगवान् कहते हैं कि ऐसा पुरुष मेरा प्यारा है। मनके अनुकूल होनेपर हर्ष होता है, हीं हीं हीं हँसता है तो यह तो एक प्रकारका विकार है। दूसरेसे ईर्ष्या जो की जाती है वह भी विकार है। इसका नाम अमर्ष है। मनके प्रतिकूल होनेमें भय होता है, उद्वेग होता है तो इन सब विकारोंसे जो रहित है—ऐसा मेरा भक्त मुझे प्यारा है। इसमें खयाल करना चाहिये कि अनुकूलतामें हर्ष होता है और प्रतिकूलतामें उद्वेग, दुःख, भय, क्रोध—ये दोनों ही प्रकारके विकार हैं। जिसके हृदयसे अनुकूलता-प्रतिकूलताका भाव उठ गया है, जिसके हृदयका सब विकार उठ गया, ऐसा जो विकाररहित पुरुष है उसके लिये भगवान् कहते हैं कि वह मुझे प्यारा है। न तो अपने चित्तमें विकार होना चाहिये और न अपने द्वारा दूसरेके चित्तमें विकार होना चाहिये। यदि हमारेसे दूसरोंको भय हो तो हम राक्षस हो गये, मुझसे लोग डरें तो हम कोई भूत हैं या प्रेत हैं। इसलिये अपने द्वारा दूसरोंको भय नहीं होना चाहिये, उद्वेग नहीं होना चाहिये, क्रोध नहीं होना चाहिये, दुःख नहीं होना चाहिये। यदि हो तो हम हिंसा कर रहे हैं, हम तो बड़ा अपराध कर रहे हैं, इसलिये अपने-आपको ऐसा सँभालना चाहिये कि अपने द्वारा दूसरोंको भी उद्वेग न हो। दूसरोंकी क्रियाको देखकर अपनेको भी उद्वेग न हो, जो इस प्रकारसे अपनेको सँभालकर रखता है वह मेरा भक्त है और वह मुझे प्यारा है ऐसा भगवान् कहते हैं। यदि गीताजीके इस एक श्लोकको हम धारण कर लेवें तो हमारा सुधार होकर उद्धार हो जाय।

दूसरोंको आदर देना चाहिये। दूसरोंकी बातको आदर देना

चाहिये। किसी भी विषयमें अपनी जो मान्यता है उसमें हठ नहीं करना चाहिये। जिद नहीं करनी चाहिये। उसे ही हमें आदर देना चाहिये। जो हम कहते हैं वही ठीक है और जो तुम कहते हो वह बिलकुल गलत है इसमें धैर्यसे विचार करना चाहिये। जल्दबाजी नहीं करनी चाहिये। गम्भीरतासे विचार करना चाहिये। मनुष्योंमें जो गम्भीरता है, धीरता है, वीरता है वही आत्माके कल्याणमें सहायक है। कोई एक भाई या बहन है उसने मुझे दो खोटी बात कही, गालियाँ दीं, हमारा अपमान किया, किंतु दूसरे समयमें जब हमारी उससे बात होती है तो उसने कहा—साहब! न तो हमने आपको गालियाँ दीं और न हमने आपका अपमान किया, न किसी प्रकारका हमने आपका अनिष्ट किया—वह ऐसा कहता है तो हमारा क्या कर्तव्य है? हमको उसकी बातपर स्वीकृति देनी चाहिये, कहना चाहिये ठीक है भैया, तुम कहते हो कि तुम्हें गालियाँ नहीं दीं, तुम्हारा अपमान नहीं किया, तुम्हारी बुराई नहीं की, तुम्हारा अनिष्ट नहीं किया, तो हमारा कर्तव्य है कि हम तुम्हारे ऊपर ही विश्वास करें। तुम्हारी बात ही सत्य मानें। दूसरे लोगोंने जो मुझसे कहा है उसे हम उठा दें, तुम्हारी बातपर विश्वास करके उसे सही मान लेते हैं, यह हमारे लिये बहुत उत्तम दर्जेकी चीज है। उसे हम प्रमाण करके यह पल्ले बाँधे कि नहीं तुमने तो ऐसा किया है यह कोई फायदेकी चीज नहीं। कोई भाई हमारे विरुद्ध पार्टीमें है और यदि वह कहता है कि नहीं मैं आपके अनुकूल हूँ तो उसकी बात मान लेनी चाहिये, समय पड़नेपर वह जरूर हमारी लाज रखेगा। जब वह स्वीकार करता है, तब हमको यह कह करके उसे अपना दुश्मन नहीं बनाना चाहिये कि तुम हमारे विरुद्ध हो। यदि

वह कहता है कि हम आपके विरुद्ध नहीं हैं तो उसके पल्ले यह बात नहीं बाँधनी चाहिये कि तुम हमारे विरुद्ध हो। उसकी बात मान लेनी चाहिये। इसी प्रकारसे मान लो कोई बात हम अपनी तरफसे सच कहते हैं; किंतु दूसरा भाई कहता है कि आपकी बातको हमने इस प्रकारसे समझा था और हम कहते हैं कि हमने तो सत्य ही कहा किन्तु वह जैसा समझा वही सत्य है। यदि हम अपनी तरफसे कहते हैं कि हमने सत्य बात कही थी उसका कोई मूल्य ही नहीं। जैसे राजा युधिष्ठिरने अश्वत्थामा हाथीके मारे जानेपर कह दिया कि '**अश्वत्थामा हतः**' और हाथी धीरेसे कह दिया किंतु द्रोणाचार्य इस विषयमें क्या समझे? द्रोणाचार्य तो यही समझे कि मेरा पुत्र अश्वत्थामा मारा गया। द्रोणाचार्य समझे वही ठीक है, यही बात युधिष्ठिरकी कायम हुई। तो उस बातको सत्य मान करके मर ही गये न? द्रोणाचार्य आकर युधिष्ठिरसे पूछते हैं कि राजा युधिष्ठिर! मैं आपसे पूछता हूँ कि मेरा पुत्र अश्वत्थामा मारा गया कि नहीं? भीमसेन कहते हैं कि मारा गया। भीमसेनके वचनपर मुझे विश्वास नहीं है, मैं आपके वचनपर विश्वास करके पूछता हूँ। इस विषयमें सत्य कहना कि मेरा पुत्र मारा गया कि नहीं? तो इसका उत्तर इस प्रकार था कि नहीं आपका पुत्र नहीं मारा गया। अश्वत्थामा मारा गया परंतु हाथी ये शब्द कहनेकी आवश्यकता नहीं। शब्द तो आपने सत्य बोल दिये किन्तु द्रोणाचार्य क्या समझे। द्रोणाचार्य जो समझे, वही बात आपकी सत्य मानी जायगी। फिर युधिष्ठिरने हाथी शब्द धीरेसे कह दिया, इसका फल यह हुआ कि जो राजा युधिष्ठिर इतने सत्यवादी थे कि उनके रथके पहिये जमीनसे चार अंगुल ऊपर उठ जाते थे—आकाशमार्गमें चलते थे, जमीनपर नहीं चलते

थे इसलिये कि रथके पहियोंसे किसीकी हिंसा न हो जाय इतने धर्मात्मा राजा थे, उसी दिनसे उनका रथ जमीनपर गिर गया। इससे झूठ बात कायम हो गयी। राजा युधिष्ठिर यद्यपि अपनी तरफसे सत्य बोले। किंतु वह बात झूठ ही मानी गयी। इसी प्रकारसे हम जो कुछ बोलते हैं और दूसरा जो कुछ अर्थ समझता है वही ठीक है और अपना कहना गलत है। भैया, तुमने क्या समझा? उन्होंने कहा—हमने तो उस दिन आपकी बातको जैसा समझा वैसा ही किया तो भैया, तुम जो समझे वही ठीक है, हमारे समझानेमें हमारी गलती रह गयी।

समझानेमें हमारी गलती रह गयी। इस गलतीको हम स्वीकार करें तो यह हमारे कल्याणकी बात है। यह नहीं कि भाई, तुम जो समझे वह समझे, हम तो सत्य बोले। तुम अपनी भूलसे समझे तो तुम अपना नुकसान उठाओ। नहीं! वह जो नुकसान उठा रहा है उसकी जिम्मेवारी हमारी है। हर एक बातमें समझो कि दूसरेको आदर देना है। उसकी दृष्टिमें हमारी भूल है हमारी दृष्टिसे हमारी भूल नहीं, किंतु आपकी दृष्टिसे हमारी भूल वहाँ कायम होती है। आपने जो बात समझी उसीके अनुसार हमारी भूल कायम होती है। उस विषयमें अपनी भूल स्वीकार करनेमें गौरवकी बात है, अच्छी बात है, कायदेकी चीज है, कल्याणकारक है। दूसरा आदमी हमारे बर्तावको, हमारे व्यवहारको, वाणीको सुनकर जो समझता है वही बात ठीक है, यह मानकर हम चलें तो इससे हमारा सुधार हो सकता है। अवहेलना करनेमें, हमने जो कहा ठीक है, ऐसा कहनेमें हमारा कोई फायदा नहीं है। इससे न हमारा फायदा है न दूसरेका। विनयभावसे रहना, दूसरोंको आदर देना, अपनी जिद छोड़ देना, अपना हठ छोड़ देना, यह बड़े महत्त्वकी चीज है। हर एक

काममें इस बातका ध्यान रखना चाहिये।

हमलोग अपने लिये मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाको अमृतके समान समझते हैं, मान-बड़ाई-प्रतिष्ठामें अमृतकी-सी प्रतीति होती है वह बहुत बुरी बात है। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा तो हमारे लिये घातक है, मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा पाकर यदि फूल जायँगे तो हमारा पतन होगा। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाको विषके समान समझकर त्याग देवें। यदि हम कोई बहुत अच्छा काम करते हैं, उससे हमारी बड़ाई होती है, हमारा मान होता है तो हम खुश हो जाते हैं, फूल जाते हैं। इस प्रकार जो हमारा कृत्य है वह सकाम हो जाता है, अल्प फल देनेवाला होता है किंतु यदि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके उद्देश्यसे हम नहीं करते और मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा प्राप्त होनेपर भी हम उसे ठुकरा देते हैं—मान-बड़ाई नहीं चाहते, उससे नफरत करते हैं, उसे सुनकर हमें दुःख होता है तो उसका फल हमारे आत्माका उद्धार है। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा—ये चीजें दूसरोंको देनेके लिये हैं। जो चाहते हैं, जो इसके ग्राहक हों, उन्हें देना चाहिये। मान-बड़ाई चाहनेवालोंकी इज्जत करनी चाहिये। उन्हें मान देना चाहिये, उनका सत्कार करना चाहिये, उनकी बड़ाई करनी चाहिये। क्योंकि वे चाहते हैं। वह चीज हानिकर है तो भी देनी चाहिये?—हाँ, स्वयं भगवान् भी देते हैं:—"**अमानी मानदः मान्यः**" भगवान् अमानी हैं, वे मान नहीं चाहते हैं, दूसरोंको मान देते हैं। खुद संसारमें मानके योग्य होते हुए भी मान नहीं चाहते और दूसरोंको मान देते हैं। हम उन भगवान्‌के अनुयायी भक्त हैं, हमको भी ऐसा ही करना चाहिये। सच्चा भक्त वही है, सच्चा अनुयायी वही है जो अपने स्वामीके सिद्धान्तके अनुसार चले। यदि कहो कि यह खराब चीज

है तो दूसरोंको क्यों दें, इसलिये दें कि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा उनकी खुराक है। चाहनेवालोंको देना ही चाहिये। वे यदि अध्यात्म-विषयमें विचार करने बैठें और अपनेसे सलाह पूछें तब तो यह कहना चाहिये कि यह जो मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा है इसे विषके समान समझकर इसका त्याग करना चाहिये। अपमान और निन्दाको अपनी आत्माके कल्याणके लिये, अपनी आत्माके सुधारके लिये अमृतके समान समझकर इसका आदर करना चाहिये। अध्यात्म-विषयके प्रकरणमें जो बात कल्याण करनेवाली है उसे करना चाहिये। वह जब अपने घरपर आता है और उसका वह भूखा है तथा चाहता है तो उसे सब चीज देते हो न? ऐसी चीज नहीं देनी चाहिये जिसके खानेसे मृत्यु हो जाय। यदि वह कहे कि मुझे आप विष दे दें, हम आत्महत्या करेंगे तो वह नहीं देना चाहिये। यह सोचनेकी बात है कि यदि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा हम किसीकी करें तो वह मर तो नहीं जाता है। किसीने मानके लायक, बड़ाईके लायक काम किया तो उसका मूल्य तो चुकाना चाहिये। वह यदि रुपया माँगे तो रुपया देना चाहिये, मान-बड़ाई माँगे तो मान-बड़ाई देनी चाहिये। मुक्ति माँगे तो मुक्ति देनी चाहिये। परोपकारका काम उत्तम काम है कोई भी उत्तम काम हो उसका फल चाहनेवालेको फल देना चाहिये और नहीं चाहे तो मुक्ति तो अपने-आप ही हो जायगी, उसका कल्याण अपने-आप हो ही जायगा। अपनी आत्माके सुधारके लिये यह सब बात कही जाती है।

अपना जीवन सादगीसे बिताना चाहिये। अपने शरीरपर कम-से-कम खर्च लगाना चाहिये। साधारण वस्त्र पहनने चाहिये। एकदम साधारण भोजन करना चाहिये, ऊपरका जो

चटक-मटक नाना प्रकारका खर्च है उसे कतई बंद करना चाहिये। किंतु दूसरोंके उपकारके लिये यह नीति नहीं बरती जा सकती। उनके लिये कंजूसी नहीं करनी चाहिये। उसके लिये अपनी शक्तिके अनुसार चेष्टा करनी चाहिये। मनसे, तनसे, धनसे, जनसे हर प्रकारसे दूसरोंको सुख देनेकी चेष्टा करनी चाहिये। यह बात जान लेनी चाहिये कि उसे क्या अभ्यास (आदत) है, कैसा अभ्यास है। कोई आदमी चाय पीता है, कोई आदमी ठंडाई पीता है, कोई मिठाई खाता है तो कोई दाल-फुलका ही पसंद करता है। इसलिये उसकी आदत, उसके स्वभाव, उसके खान-पानके अनुसार उसे भोजन देना चाहिये। मान लो अपने लिये ऐसा विचार कर लिया कि हम मिठाई नहीं खायेंगे, अंगूर, आम, बढ़िया-बढ़िया जो चीजें हैं उन्हें भी नहीं खायेंगे, खिचड़ी खायेंगे अथवा रूखी-सूखी रोटी या जो कुछ मिल जाय वही हमारे लिये बहुत है। यह हम अपने लिये तो कायम कर सकते हैं लेकिन यदि अपने यहाँ कोई दूसरा आ जाय तो उससे कहते हैं कि हम तो वैराग्यसे रहते हैं जो कुछ रूखा-सूखा मिल जाता है वही खाया करते हैं और आप भी ऐसा ही खाया करें। ऐसा हम दूसरोंके लिये कायम नहीं कर सकते। दूसरेकी जैसी आदत होती है उसके अनुसार ही भोजन देना चाहिये। वैराग्य अपने लिये होता है न कि दूसरोंके लिये। त्याग अपने लिये होता है दूसरोंके लिये नहीं। अपना जीवन त्यागपूर्ण होना चाहिये, वैराग्यपूर्ण होना चाहिये, सादगीका होना चाहिये और हमारेसे यदि कोई सलाह ले तो सलाह भी यही देनी चाहिये। किंतु दूसरोंके लिये हमको कायम नहीं करना चाहिये। यदि सब कोई अपना सुधार चाहते हों तो सभी मिल करके अपना

नियम बना सकते हैं, उसमें कोई दोषकी बात नहीं है। हमलोग सत्संग करनेके लिये आयें तो अपना जीवन तपोमय बनाना चाहिये। तपोयुक्त होना चाहिये। यहाँ हमलोग आये हैं, आप सब लोगोंको ऐसा जँचे तो अपने लिये नियम बना लो, नियम क्या? नियम यह कि दिनमें एक वक्त खाना सबसे उत्तम है, अधिक-से-अधिक दो वक्त, इससे अधिक और भोजन नहीं करना। भोजन करनेके समयमें बस दो ही पदार्थ लेने चाहिये। ज्यादा-से-ज्यादा हो तो तीन ले सकते हैं। और वस्त्र जो पहनते हैं वह दो ही वस्त्र पहनने चाहिये, एक धोती, दूसरा जाकेट या कोई चादर। मान लो यदि दोसे काम नहीं चले तो तीन रख सकते हैं तीनसे ज्यादा नहीं। और भोजनके समय एक ही बार लेना चाहिये बार-बार नहीं, जिससे परोसनेवालेको तकलीफ न हो और अपना भी मन इधर-उधर न जाय। इस प्रकारसे नियम बना लिया जाय और उस नियमका पालन किया जाय तो उसका आदर है। यहाँ तप करनेके लिये आये हैं इसलिये यहाँ अपना जीवन संयमसे बिताना चाहिये। अपने मनपर, इन्द्रियोंपर संयम रखना चाहिये, काबूमें रखना चाहिये। इसमें कोई दोषकी बात नहीं है; किंतु ऐसी बात नहीं है कि आप यहाँ आये तो आपको इस प्रकार तपस्या करनी पड़ेगी। यहाँ रसोईमें भोजन करेंगे तो आपको दो ही चीज मिलेगी इससे अधिक नहीं मिलेगी, आप एक बार ले लें बार-बार माँग नहीं सकेंगे। इसे हम कायम नहीं कर सकते। अपने यहाँ भोजन करनेके लिये बहुत भाई लोग आते हैं, उनके लिये अपना कोई नियम कायम नहीं है कि आप सबको ऐसा करना पड़ेगा। यह नियम तो अपने लिये ही है। दूसरा अच्छा समझे तो वह भी पालन करे, न समझे

तो न करे। हम बाध्य नहीं कर सकते कि आपको हमारे यहाँ भोजन चौकेमें करना पड़ेगा तो इस प्रकारसे ही करना होगा। हम आपको एक बार परोस देंगे फिर माँगेंगे तो नहीं देंगे। हम मौन होकर भोजन करते हैं अतः आप भी मौन हो करके करें। यदि कोई कहे कि हमारी तो आदत नहीं है भैया, हम तो बोल करके भोजन करते हैं तो उसे हम बाध्य नहीं कर सकते। हाथके बने कपड़े पहनकर भोजन करते हैं और आप मिलके या विलायती कपड़े पहने हैं तो हम आपको नहीं जिमायेंगे। ऐसा हम उसके ऊपर कायम नहीं कर सकते। मनुष्य संयम अपने ऊपर करे दूसरोंपर नहीं। यदि दूसरे उसकी देखा-देखी करें तो बड़ी अच्छी बात है, दूसरोंके लिये ऐसा पुरुष आदर्श बन जाता है:—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करता है दूसरे पुरुष उसीके अनुसार करते हैं, श्रेष्ठ पुरुष जो प्रमाणित कर देता है वे दूसरे पुरुष उसे प्रमाण मानकर उसका अनुसरण करते हैं। वे स्वयं करते हैं, दूसरोंको करनेके लिये बाध्य नहीं करते। इस प्रकारसे करनेवाले उत्तम माने जाते हैं।

उच्चकोटिके जो पुरुष होते हैं वे वाणीद्वारा उसी विषयका उपदेश देते हैं जो खुद करते हैं। और जो स्वयं करते नहीं, केवल दूसरोंको ही उपदेश देते हैं उनके उपदेशका कुछ भी असर नहीं होता। स्वयं आचरण करनेवाला उत्तम कोटिका सज्जन पुरुष उपदेश न भी दे तो उसका अधिक असर पड़ता है और जो खुद आचरण करते हैं तथा आचरण द्वारा, क्रियाके

द्वारा ही उपदेश देते हैं ऐसे उपदेशका बड़े उच्चकोटिका असर होता है और यदि वाणीद्वारा दे तो भी कोई हर्जकी बात नहीं, दे सकते हैं। जिसमें श्रद्धा होती है उसपर उपदेशका असर अच्छा होता है। जिसमें श्रद्धा नहीं, विश्वास नहीं उसपर असर कम होता है। उपदेश एक आदमी देता है, सैकड़ों आदमी सुनते हैं, सबपर समान प्रभाव नहीं पड़ता। जिनमें अधिक श्रद्धा होती है उनपर उतना अधिक प्रभाव पड़ता है। जिसकी आत्मामें जिसके प्रति श्रद्धा होती है वह श्रद्धालु पुरुष अपने श्रद्धेयके मनके माफिक चलता है, उनके संकेतके माफिक चलता है और जो अश्रद्धालु होते हैं वे उसके हुकुमको भी नहीं मानते। बल्कि उसके वचनोंका विरोध करते हैं।

मान लो कोई एक महात्मा पुरुष है और दूसरा उसकी आज्ञाके एकदम विरुद्ध चलता है, उसकी आज्ञाके प्रतिकूल चलता है, ऐसी स्थितिमें वास्तवमें तो उसे दंड होना चाहिये, किंतु महात्माका भाव यह है कि मुझे निमित्त बनाकर किसीको भी दंड नहीं होना चाहिये। तभी तो वह महात्मा है। महात्माकी बातकी अवहेलना करके हम दण्डनीय नहीं होते, हमें ईश्वरके यहाँसे कोई दंड नहीं मिलता, यह महात्माकी दयालुता है, महात्माका गौरव है। उससे श्रेष्ठ वह है जो न तो उनके विरुद्ध चलता है और न उनकी आज्ञाका पालन करता है। ऐसा व्यक्ति दण्डनीय तो है ही नहीं, क्योंकि सभी स्वतन्त्र हैं, किसीकी आज्ञाके पालनके लिये कोई बाध्य नहीं है। उनकी बातका विरोध करता है उससे तो वह अच्छा है, क्योंकि वह विरोध तो नहीं करता। मानता नहीं तो विरोध भी नहीं करता। इससे वह अच्छा है कि मानता तो है किंतु मनको मार करके—दबाव सह करके मानता है, अपने ऊपर अफसर

मानकर या अपने ऊपर कोई पदाधिकारी मान करके या अपना पिता मान करके या अपने किसी कायदेमें बड़ा समझ करके उसका लिहाज करके, उसकी आज्ञाका पालन करता है, मनसे तो नहीं करता, किन्तु दबाव मान करके करता है। फिर भी मानता तो है न? किसी भी प्रकारसे करे। श्रद्धा तो नहीं मानी जाती पर न करनेवालेसे श्रेष्ठ है। उससे श्रेष्ठ वह है जो उचित समझकर उनके हुकुमका पालन करता है। उससे भी श्रेष्ठ वह है जो उनके संकेतके अनुसार चलता है, कहना नहीं पड़ता। वह और भी ज्यादा श्रद्धालु है, श्रेष्ठ है जो उनके मनके भावको जानकर चलता है। सिद्धान्त मान करके चलता है कि इनका यह सिद्धान्त है, इनका यह भाव है इससे ये खुश हैं, और इससे भी वह ज्यादा श्रद्धालु है जो इस प्रकारके भावसे काम करते समय एकदम मुग्ध हो जाता है कि मेरे द्वारा महात्माकी आज्ञाका पालन हो रहा है, मेरे समान कौन है, आज मेरा अहोभाग्य है जो उनकी आज्ञाका, उनके संकेतका, उनके वचनोंका पालन हो रहा है, यह समझ करके उसे बड़ी प्रसन्नता हो रही है, इससे भी वह श्रेष्ठ है, इतनी प्रसन्नता हो रही है कि उसे वह सँभाल नहीं सकता—मुग्ध हो जाता है। उनकी आज्ञाका पालन करते-करते, उनके संकेतका पालन करते-करते एकदम मन्त्रमुग्धकी भाँति मुग्ध रहता है, वह और भी श्रेष्ठ है। और जो उससे भी ज्यादा प्रेममें, आनन्दमें ज्यादा मुग्ध हो जाता है जैसे किसीको परमात्माकी प्राप्ति होनेसे प्रसन्नता, शान्ति और आनन्दकी प्राप्ति होती है उसे उसी क्षण परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। ऐसी बात महात्मामें परम श्रद्धा होनेसे होती है। जब परम श्रद्धा हो जाती है, उच्चकोटिकी श्रद्धा हो जाती है तो फिर

उसके कल्याणमें विलम्ब नहीं होता।

परम श्रद्धा उसे कहते हैं कि प्रत्यक्षसे भी बढ़कर उनके वचनोंमें विश्वास और श्रद्धा हो जाय। जिसका ऐसा भाव हो जाय कि श्रद्धेयकी आज्ञा न मानना मृत्युके समान है। उसके लिये मरना तो मामूली बात है। किंतु उसकी आज्ञाके विरुद्ध वह नहीं चल सकता, जैसे वाल्मीकिरामायणमें भगवान् राम माता कौसल्यासे कहते हैं कि पिताकी आज्ञाका उल्लंघन करना मेरी सामर्थ्यके बाहरकी बात है। मैं पिताजीकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सकता। रामकी पिताजीके वचनोंमें कितनी श्रद्धा थी और कितना विश्वास था। जहाँ उच्चकोटिकी श्रद्धा होती है वहाँ श्रद्धेय पुरुषकी आज्ञाका पालन करना लोकविरुद्ध है, शास्त्र-विरुद्ध है तो भी उसकी आज्ञाका पालन वह प्रसन्नतासे करता हैं। मैंने आपको श्रद्धाकी यह बात बतलायी।

भगवान्‌के मिलनेके लिये भगवान्‌का भजन करना, ध्यान करना, उनपर विश्वास करना, श्रद्धा करना, उनमें प्रेम करना, ये सब जो उपाय हैं सो तो उत्तम हैं ही, किन्तु सबसे जबर्दस्त उपाय है भगवान्‌पर विश्वास करके भगवान्‌से मिलनेकी उत्कट इच्छा होना। एक आदमी जो भजन-ध्यान करता है उससे भी यह जोरदार बात है। एक आदमी जो है तो निम्न श्रेणीका किंतु भगवान्‌से मिलनेकी उसकी बड़ी भारी तीव्र इच्छा है तो भगवान्‌को उससे मिलना ही पड़ता है चाहे वह कितने ही निम्न श्रेणीका हो। जैसे किसी भिखारीका मन मिठाई खानेके लिये चल गया, पर मिठाईपर अधिकार भी नहीं है और उसके पास पैसे भी नहीं हैं जिससे खरीदकर खा सके लेकिन वह कहता है कि आपके पास मिठाई है मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप कृपा करके मुझे भी थोड़ा दे दें। तो यह सुन

करके जिसमें थोड़ी भी दया होगी उसके दिलमें भी यह बात आ जाती है कि भैया दे दो, इसकी इच्छा है, यह चाहता है, इसे कहाँ मिलेगी। इसकी इच्छा पूर्ण करो, तो उसकी इच्छा पूरी करनेके लिये थोड़ी भी दयावाला आदमी उसे मिठाई दे देता है। तो भगवान् तो परम दयालु हैं वे समझते हैं कि यह पात्र तो नहीं है फिर भी मुझसे मिलनेकी इच्छा हो गयी तब उसकी इच्छा पूरी कर देनी चाहिये, क्योंकि मैं संसारमें दयालु कहलाता हूँ और यह मेरे वशकी बात है यह इच्छा तो इसकी पूर्ण कर देनी चाहिये। इसलिये उसे वे दर्शन दे देते हैं।

जो दयालु होता है वह पात्र नहीं देखता। यदि वह पात्र देखे तो फिर दया क्या हुई। भगवान् इतने दयालु हैं कि हमलोग यद्यपि पात्र नहीं हैं फिर भी इस बातको वे कभी नहीं देखते। जो आदमी यह समझता है कि मेरे पात्र बननेसे ही भगवान्‌के दर्शन मुझे होंगे तो वे पात्र बन करके ही भगवान्‌को पावेंगे। भगवान् समझते हैं कि मेरे दयाके तत्त्वको ये नहीं समझते। ये तो इस ऐंठमें हैं कि हम जब पात्र बनेंगे तभी हमारा उद्धार होगा। तो इनको पात्र बनने दो। पात्र बन करके ही इनका कल्याण होगा हम क्या उपाय करें किन्तु जो यह समझता है प्रभो! हम तो कुपात्र हैं किंतु आपके हैं तो जैसे माता-पिता अपने बालकके दोषोंकी तरफ नहीं देखते हैं, दया करते हैं। मैं पात्र हूँ या कुपात्र हूँ, हूँ तो आपका न! इस नाते मैं आपका दर्शन करना चाहता हूँ तो भगवान् उसके लिये ना नहीं करते। भगवान्‌से मिलनेकी उत्कट इच्छा होनी चाहिये। फिर मिलनेमें विलम्ब नहीं होता। यह जो इच्छाकी कमी है इसी कारणसे विलम्ब होता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि हम विलम्ब बर्दाश्त कर रहे हैं। कितना समय चला गया हम भगवान्‌के बिना जी रहे हैं। जो आदमी भगवान्‌का न मिलना बर्दाश्त नहीं कर सकता उसके लिये भगवान् विलम्ब नहीं करते। जो बर्दाश्त करता है वही वंचित रह जाता है। जैसे छोटा-सा बच्चा एक सालका हो या दो सालका, माँको पुकारता है और माँके आनेमें जब विलम्ब होता है तब उसे यह बर्दाश्त नहीं करता, माताको जब खबर पहुँचती है तो सब काम छोड़ करके माँ वहाँ आती है; क्योंकि उसे बर्दाश्त नहीं है और जब माँ आती है और पुकारते-पुकारते उसका साँस भर जाता है, अपनी माँको खूब दोष देता है कि तुमने आनेमें विलम्ब क्यों किया? इसी प्रकार जब हमारे प्राण भगवान्‌के दर्शनके बिना व्याकुल हो जायँ तो भगवान्‌को उसी क्षण आना पड़ेगा। जिस प्रकार रुक्मिणीके लिये भगवान्‌को तुरंत जाना पड़ा, उसी समय भगवान्‌को वहाँ पहुँचना पड़ा; क्योंकि रुक्मिणी भगवान्‌के लिये व्याकुल थी। ऐसे ही सुतीक्ष्णके लिये भगवान् पहुँचे, द्रौपदीके लिये भगवान् तुरंत पहुँचे। अतएव भजन-ध्यानसे बढ़ करके भगवान्‌के दर्शनके लिये व्याकुल होना, आतुर होना यह असली भजन है।

दामी भजन-ध्यानका स्वरूप और उसका उपाय

कल्याण-प्राप्तिके विषयमें अपना कर्तव्य है भगवन्नाम-जप एवं भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करना। ऐसा करते-करते एक दिन यह अवस्था हो जायगी कि भगवन्नामका जप एवं भगवान्‌का ध्यान स्वतः होने लगेगा। नामके जपका अभ्यास मनुष्य "राम राम राम राम" ऐसा पहले जोरसे करे, फिर आहिस्ते करे, फिर श्वाससे करे, फिर मनसे करे। इस प्रकारसे नामका जप करते-करते आगे चलकर दृढ़ अभ्यास हो जाय तब नाम-जप अपने-आप होने लगेगा। जब नाम-जप अपने-आप होने लगेगा तब उसे छोड़ा नहीं जा सकता। जैसे श्वास हमारे स्वाभाविक ही आते-जाते हैं। हम रोक नहीं सकते। यदि उसे रोका जाय तो वह खतरनाक प्रतीत होता है। रोकनेपर जी नहीं सकते। जैसे श्वासोंका रोकना हमारे लिये महान् कष्टदायक है, इसी प्रकारसे भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान जब निरन्तर अपने-आप होने लगता है तब उसका रोकना हमारे लिये असम्भव होता है यानी स्वाभाविक रूपसे होने लगता है। किन्तु आरम्भमें भजन-ध्यान करनेके लिये कोशिश ही करनी पड़ती है। हम इस आशासे भजन-ध्यान न करें कि भजन-ध्यान होगा उस दिन अपने-आप ही होगा। हम यदि इस बातपर ध्यान रखें कि हमारेमें जो दुर्गुण हैं, दुराचार हैं उनके त्यागकी चेष्टा करें तो इन दुर्गुण-दुराचारके त्यागनेके बाद फिर भजन अपने-आप ही होने लगेगा। उसमें कहीं ऐसा न हो जाय कि हम दुर्गुण-दुराचारोंको मेटते

रहें और हमारी मृत्यु प्राप्त हो जाय जिससे हमें जन्म लेना पड़े। भजन-ध्यान करनेका अभ्यास रहे और हमारेमें अवगुण-दुर्गुण-दुराचार भी हो—थोड़ा या ज्यादा और मरनेके समय भजन-ध्यानकी आदतके कारण उसे करने लग जाय तो इसमें कल्याण होनेकी गुंजाइश है और उसमें कल्याण होनेकी गुंजाइश नहीं, इसलिये दोनों ही काम हमें साथ-साथ करना चाहिये। अवगुणों-पापोंका भी त्याग करना चाहिये और भजन-ध्यान भी करना चाहिये। किन्तु उन दोनोंमें भजन-ध्यानको प्रधानता देनी चाहिये और उनको गौणता देनी चाहिये। क्योंकि भजन-ध्यानके बढ़ जानेसे उनका अपने-आप ही नाश हो जायगा और हमारी धारणा यह नहीं है कि दुर्गुण-दुराचारोंको त्यागते-त्यागते आगे जाकर भजन-ध्यान भी अपने-आप होने लगेगा। यह किसीकी धारणा हो तो शायद उसे हो भी सकते हैं। हम यह नहीं कह सकते कि नहीं हो सकते। किन्तु हमारी बुद्धिमें यह बात कम आती है कि भजन-ध्यान अपने-आप ही होने लगेगा। हमारी तो यह धारणा है कि भजन-ध्यान तो करना ही चाहिये, गीतामें भगवान् जगह-जगह अपना स्मरण करनेको कहते हैं। इस बातकी प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये कि भगवान्‌का भजन-ध्यान अपने-आप ही होगा वही बढ़िया होगा, ठीक होगा। और जब वह होगा तब भजन-ध्यान करनेका हम पहलेसे क्यों इतना परिश्रम करें। यह समझ हमें गलत मालूम देती है।

मुझे तो सब प्रकारसे शास्त्रोंको देखनेसे, युक्तिसे, अभ्याससे, अनुमानसे और महात्माओंके वचन सुननेसे यही मालूम होता है कि भगवान्‌के नामका जप और भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करनेका निरन्तर अभ्यास करना चाहिये। कर्मयोगका साधन

करनेमें जप-ध्यान उसके साथ रहना बहुत ही फायदेकी चीज है। ज्ञानयोगमें जप-ध्यान साथमें रहना बहुत फायदेकी चीज है, सांख्ययोगमें चलता है तो जप-ध्यान उसके साथ चलना बहुत ही आवश्यक है। और इसी प्रकार भक्तिके मार्गमें तो उसका स्वरूप ही है। अब यह बात जो पूछी जाती है कि भजन-ध्यान दामी कैसे बने, यह बात विस्तारसे समझायी जाती है।

पहले यह समझना चाहिये कि भजन कौन-सा दामी है और ध्यान कौन-सा दामी है। इस विषयमें पहले उसका स्वरूप समझना चाहिये। जो भजन वाणीके द्वारा होता है उससे श्वासद्वारा जो जप होता है वह ज्यादा दामी है। श्वासके द्वारा जो जप होता है उससे भी जो मानसिक जप होता है वह ज्यादा दामी होता है। मानसिक जप करके उसे प्रकाशित न करे—गुप्त रखे तो वह और दामी है। गुप्त रख करके भी जिस नामका हम जप करें उस नामके अर्थको भी समझ लें वह जप और दामी है। तात्पर्य यह कि भगवान्‌के नामका जो जप किया तो भगवान् क्या चीज हैं इस बातको भी हम समझ लें। उसके अर्थको भी समझ लें वह दामी है। ऐसा जप निरन्तर हो, तार नहीं टूटे वह उससे भी अधिक दामी है। और उससे भी वह अधिक दामी है जो निष्काम भावसे और श्रद्धासे और प्रेमपूर्वक हो। उससे अधिक दामी कोई नहीं है। इसी प्रकारसे ध्यानकी बात मैं कहता हूँ। भगवान्‌के स्वरूपका एक भाई ध्यान कर रहा है, जैसे भगवान् श्रीरामके स्वरूपका मैं ध्यान कर रहा हूँ। वह ध्यान दामी है जो रामके ध्यान करनेके साथ-साथ रामका जो चरित्र है—भगवान् रामने ऐसा किया, ऐसा किया, ऐसा किया। भगवान्‌के स्वरूपका तो मैं ध्यान कर रहा हूँ और रूपकी तो स्मृति

है, किन्तु स्वरूपकी स्मृतिके साथ-साथ भगवान्‌की लीला है, चरित्र है, उसकी भी स्मृति हो तो और दामी है। क्योंकि लीलाके साथ-साथ स्वरूप तो है ही, किन्तु स्वरूपके साथ लीला नहीं है। इसलिये भगवान्‌की लीलाके साथ स्वरूपका ध्यान करना और दामी है। लीलाके साथ-साथ उनकी प्रत्येक लीलामें भगवान्‌के गुणोंको देखता रहे, क्योंकि भगवान्‌की कोई लीला गुणोंसे खाली नहीं है। गुणोंको भी साथ-साथ याद कर ले और भगवान्‌की लीलासे ही अन्दाज लगाया जाय कि ऐसे गुण सिद्ध हुए हैं। इस वास्ते जब हम भगवान्‌के गुणोंको इस प्रकार याद करते हैं कि भगवान् बड़े दयालु हैं दयाका काम किया, उपकारका काम किया तभी दयालु हुए, भगवान् अपने सबके सुहृद् हैं, भगवान् समदर्शी हैं, तो इन गुणोंको भगवान्‌के स्वरूपके ध्यानके साथ-साथ याद करना और भी दामी है। इससे भी बढ़कर वह है जो गुण और प्रभावको भी हम याद करें। यद्यपि गुणोंके अन्दर ही प्रभाव है। किंतु यदि हम उस प्रभावको गुणोंसे अलग छाँटकर देखें, प्रभावका भी खयाल करें गुणोंके साथ-साथ कि भगवान् बड़े प्रभावशाली हैं, ऐसे गुणोंवाले, ऐसे स्वभाववाले भगवान् हैं। गुणोंके साथ-साथ भगवान्‌के स्वभावको भी हम याद कर लें और स्वभावको याद करके उनके सामर्थ्यको भी याद करें कि हम बहुत गये-बीते हैं, किन्तु भगवान् अपनी तरफ देखकर, अपने स्वभावकी तरफ देखकर हमारे ऊपर दया ही करेंगे—ऐसा करना भगवान्‌के लिये कोई बड़ी बात नहीं है। असम्भवको भी वे सम्भव कर सकते हैं वे ऐसे प्रभावशाली हैं, वे चाहें तो पापी-से-पापीका क्षणमात्रमें उद्धार कर सकते हैं। इस प्रकार उनका प्रभाव भी जानकर प्रभावके साथमें ध्यान करें तो वह

और भी दामी है। यह सब करते हुए आखिरमें हम निष्काम भावसे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्‌का ध्यान करें। वह सबसे बढ़कर दामी है। ऐसा ध्यान करके फिर भगवान्‌के साथ ध्यानावस्थामें जो भगवान्‌का स्वरूप है उनके साथमें दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप इत्यादि हम करें तो वह बहुत ही दामी है। उससे प्रत्यक्ष शान्ति और आनन्द मिलता है और प्रत्यक्ष प्रेम बढ़ता है। इन सबसे बढ़कर है श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्काम भावसे भगवान्‌का ध्यान करना। ऐसा हो जानेपर भजन और ध्यान अपने-आप होने लगता है, यह सबसे बढ़कर है।

भजन माने नामजप और ध्यान माने भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान। अब यह बात आयी है कि ऐसा भजन, ऐसा ध्यान हो कैसे? जब इस प्रकारकी लालसा रहेगी तो कोई बतलानेवाला भी मिल जायगा। और लालसा दृढ़ हो जानेपर तो स्वयं भगवान् प्रकटरूप होकर बतलावेंगे। यह पहला उपाय है, दूसरा उपाय यह है कि भगवान्‌से बढ़कर दुनियामें कोई पदार्थ नहीं है। भगवान्‌के भजन-ध्यानसे बढ़कर कोई साधन नहीं। और भगवान्‌से बढ़कर संसारमें कोई है ही नहीं, सबसे बढ़कर भगवान् और भगवान्‌का भजन तथा ध्यान है यह समझनेसे भजन और ध्यान दामी होता है, अवश्य ही होता है। और यह भी उपाय है कि इस प्रकारकी धारणा बनानेके लिये कि भगवान्‌से बढ़कर कोई नहीं तथा भगवान्‌के भजन-ध्यानसे बढ़कर कोई साधन नहीं है, इस धारणाके दृढ़ होनेके लिये सत्पुरुषोंका संग और सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय भजन-ध्यानको दामी बना देता है। इस प्रकार करनेसे उसमें श्रद्धा बढ़ती है। भगवान्‌के गुण-प्रभाव-तत्त्व-रहस्यकी बातोंको सुननेसे या पुस्तकोंमें पढ़नेसे भगवान्‌में श्रद्धा बढ़ती है और श्रद्धा होनेसे

भगवान्‌में प्रेम बढ़ता है। श्रद्धा-प्रेमपूर्वक किया हुआ जो भजन-ध्यान है वह सबसे बढ़कर है और उसके साथमें निष्काम भाव जुड़ जाय तो फिर कहना ही क्या है। श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्काम भावसे भगवान्‌का भजन-ध्यान करना सबसे बढ़कर दामी है। सत्संग-स्वाध्यायसे ही हमको मदद मिल सकती है। जो महात्मा पुरुष हैं, उच्चकोटिके जो पुरुष हैं, उनका ऐसा स्वभाव स्वाभाविक ही होता है, उन पुरुषोंके संगसे हमारा भी वैसा स्वभाव बन सकता है। शास्त्रोंमें भगवान्‌के नाम और गुणोंकी महिमा आती है और भगवान्‌के प्रभावकी बातें भी आती हैं। भगवान्‌के साथ निष्काम भावसे प्रेम करनेवालेकी भी महिमा आती है। श्रद्धा और प्रेमपूर्वक हम भजन-ध्यान करें। श्रद्धा माने विश्वास, यानी विश्वासपूर्वक करें, भक्तिपूर्वक भजन-ध्यान हम करें और सकाम भावसे करें तो बात तो बहुत ऊँचे दर्जेकी है किन्तु निष्कामके समान नहीं है। सकामके अलग-अलग दर्जे हैं। धनके लिये, ऐश्वर्यके लिये हम भगवान्‌का भजन करें, ध्यान करें तो उससे अच्छा वह है कि सांसारिक पदार्थके लिये नहीं, किन्तु भारी आपत्ति मिटानेके लिये या संकट आ जाय तो संकट निवारणके लिये करें। वे पहलेसे श्रेष्ठ हैं। जो स्त्री, पुत्र, धन आदिके लिये भगवान्‌का भजन करता है उसकी अपेक्षा वह श्रेष्ठ है जो स्त्री, पुत्र, धन, ऐश्वर्य आदिके लिये तो नहीं करता निष्काम भावसे ही करता है। किंतु संकट प्राप्त होनेपर भगवान्‌से प्रार्थना कर देता है कि इस मेरे संकटका निवारण हो, जैसे द्रौपदीने किया तो वह पहलेसे श्रेष्ठ है। इससे भी श्रेष्ठ वह है जिसके हृदयमें मुक्तिकी कामना है, अपने कल्याणकी कामना है, वह निष्कामके ही तुल्य है, किन्तु निष्काम नहीं है, उससे भी ऊँचा दर्जा

उसका है जो केवल निष्काम है, जैसे प्रह्लाद भक्त केवल निष्काम ही था। देनेपर भी उन्होंने इनकार किया। ऐसा जो निष्काम भाव है वह सबसे बढ़कर है। ऐसा निष्काम भाव निष्कामी पुरुषोंके संगसे पैदा होता है। जो निष्कामी पुरुष हैं, स्वार्थका त्यागकर लोगोंका उपकार करनेमें जिनका जीवन समर्पित है, लोगोंके लिये जिन्होंने अपना सर्वस्व त्याग किया है ऐसे जो महापुरुष हैं उनके व्यवहारको देखकर साधकके जीवनपर छाप पड़ती है। इस वास्ते उसका भी व्यवहार निष्काम हो जाता है, उच्चकोटिका हो जाता है। इसलिये हम लोगोंको भगवान्‌की भक्ति एकदम निष्काम भावसे करनी चाहिये। फिर भी यह बात समझमें नहीं आवे तो भगवान्‌का दर्शन माँग लें, तो कोई आपत्ति नहीं। भगवान्‌में अनन्य प्रेम और परम श्रद्धा माँग लेवें तो कोई आपत्तिकी बात नहीं। यह जो माँगना है वह नहीं माँगनेके समान ही है। भजन और ध्यान निरन्तर तेजीके साथ कैसे हो? समय बड़ा ही मूल्यवान् है क्योंकि यदि एक क्षण हम जीना चाहें तो लाख रुपया खर्च करनेपर भी नहीं जी सकते। ऐसे अमूल्य समयका तत्त्व-रहस्य यदि समझमें आ जाय तो उसका साधन तेज हो सकता है। तथा यदि यह समझमें आ जाय कि यह समय परिमित है यह भी पता नहीं कि कलतक हम रहेंगे कि नहीं। इसकी जानकारी भगवान्‌ने हमें नहीं दी तो हमारे अच्छेके लिये नहीं दी क्योंकि यदि हमें यह ज्ञान हो जाता कि ८० वर्षकी उम्रमें हम मरेंगे तो समझो कि हम सोचते रहेंगे कि ७८ वर्षतक तो खूब मजेमें खायें, पीयें, अभी ८० वर्षकी उम्रमें मरेंगे, तो मौज उड़ायें फिर जब २ वर्ष नजदीक आ जायगा तब देखा जायगा। जब २ वर्ष नजदीक आयेंगे तो सोचेंगे एक वर्ष नजदीक

आयेगा तब देखा जायगा। और जब एक वर्ष रहेगा तब छः महीनेपर टाल देंगे, दो-चार दिन रह जायगा फिर उसका बस रहेगा नहीं। इसलिये यह समझना चाहिये कि भगवान्‌ने हमको यह खबर नहीं दी कि इतने वर्षतक तुम जीवोगे। हमलोगोंपर भगवान्‌ने यह बड़ी भारी दया की है। इसीलिये हमारे हाथमें यह गुंजाइश है कि आज तो है कल है कि नहीं यह पता नहीं, फिर तो ऐसा आयोजन करें कि अपनी आत्माका उद्धार आज ही हो जाय और कल्याण हो जाय। न मालूम एक दिनके बाद क्या होगा? इसपर एक छोटी-सी कहानी है।

एक राजा बड़े विषयी थे। उनकी अनेक स्त्रियाँ थीं। एक महात्मा पुरुषने सोचा कि इस देशका जो राजा है उसका यदि सुधार हो जाय तो प्रजाका अधिकांशमें सुधार हो सकता है। ऐसा सोच करके वह उस राजाके देशमें आया। वे महात्मा संन्यासी थे। वास्तवमें सच्चे थे। लोग उनके पास जाने-आने लगे। फिर राजाके कर्मचारी, हाकिम आदि भी जाने लगे। उनके ऊपर भी छाप पड़ी कि ये बड़े उच्चकोटिके महात्मा पुरुष हैं। सबने राजा साहबसे कहा। राजाने कहा कि अच्छा मैं भी एक दिन चलूँ। राजा एक दिन वहाँ आया। महात्माने राजासे पूछा—आप किस कामके लिये हमारे पास आये हैं। उसे तो वही लगन थी स्त्रीकी। उसने कहा—महाराज! मेरे पास बहुत-सी रानियाँ हैं, उनको कैसे तृप्त करूँ, काम और भोगसे। यदि आपके पास ऐसा कोई उपाय हो या कोई औषधि हो तो आप बताइये।

महात्माने कहा—ठीक है, एक बोतल लाये। महात्माने इस बोतलमेंसे तीन बूँद डालकर कहा कि तुम पी लेना और स्वयं एक बोतल पी गया। राजाने वैसा ही किया—तीन बूँद

ओषधि पी ली। इससे राजाको बड़ा भारी नशा आया, वह मादक चीज़ थी। नशा आनेके कारण राजाने रानियोंके साथ भोग-विलास किया। मादक औषधिका असर तीन दिनतक रहा। तीन दिनके बाद राजा खुश हो गया और कहा—यह तो बड़ा उच्चकोटिका महात्मा है। मूर्ख राजाको मालूम नहीं कि क्या महात्माओंके ऐसे लक्षण होते हैं। वह तो समझा कि जिसमें नशा करानेकी करामात है वही महात्मा है। इस नशेकी करामातको देखकर राजाकी श्रद्धा महात्मापर खूब बढ़ गयी और उनके चरणोंमें गिरकर बोला कि महाराज आपने बहुत ही अच्छा काम किया, तीन दिनतक उसका असर मेरे ऊपर रहा, आप और भी दें। महात्माने फिर दिया और राजाको उसका भी तीन दिन असर रहा। इस प्रकार दो-तीन बार औषधि देनेपर राजाको पूरा विश्वास हो गया। तदनन्तर राजाने कहा महाराज! आप मुझे ऐसी औषधि दें जिससे बार-बार आपके पास आना न पड़े। सदाके लिये वह चीज मुझमें कायम हो जाय। कितनी ही स्त्रियाँ हों मेरी, मैं सबको तृप्त कर सकूँ। यह सुनकर एक बोतल औषधि राजाको पिला दी, एक बोतल आप पी गये और कहा आयुभरके लिये निश्चिन्त हो जाओ। बोतल पी करके राजा नशेमें चूर होने लगा तब महात्माने कहा—अरे मैंने तो बड़ा अनर्थ कर दिया। इसपर राजाने सोचा और कहा—अरे! मुझे कोई जहर तो नहीं पिला दिया, आपसे हमारा क्या अनर्थ हो गया? महात्मा बोले—महाराज! अब कहनेसे क्या है। जो पिला दिया वह तो पिला दिया। यदि पहले याद होता तो नहीं पिलाता। राजा बोला—महाराज! बता तो दो क्या बात है। महात्माने कहा—बात क्या है, आजसे तीन दिनके बाद तुम्हारी मृत्यु

हो जायगी। राजा बोले—महाराज! तीन दिनके बाद क्या मैं निश्चित मर जाऊँगा? महात्मा बोले—निश्चय! राजा फिर बोले—क्या मैं मर जाऊँगा? महात्मा बोले—हाँ! तो राजाने कहा अब इसका उपाय क्या है? महात्माने कहा—उपाय है, अबसे मृत्युपर्यन्त तुम भगवान्‌को याद रखो फिर तुम्हारा उद्धार हो जायगा। राजा बोले—मैं बड़ा भारी पापी हूँ, महात्मा बोले—कितने भी पापी तुम क्यों न हो अबसे तुम भगवान्‌को याद करो बस तुम्हारा कल्याण हो जायगा—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ (गीता ८। १४)

भाव यह है कि जो अनन्यचित्तसे नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करता है उस योगीके लिये मैं सुलभ हूँ। राजाने कहा—ठीक है। महात्मा बोले—एक बातका नियम लो कि अबसे लेकर जबतक प्राण जाय तबतक न तो किसीसे बात करूँगा और न भगवान्‌के स्मरणका त्याग करूँगा और न इसमें कोई विघ्न पड़ने दूँगा। राजाने कहा—ठीक है।

तदनन्तर राजाने अपने सभी अधिकारियोंको इकट्ठा करके हुकुम दे दिया—समझा दिया कि मैं परमात्माके ध्यानमें, एकान्तमें बैठकर मस्त होऊँगा। महलके चारों ओर नंगी तलवारका पहरा रहे। किसी प्रकारकी आवाज न हो, जो करे उसे मार डाला जाय। कोई मुझे जगावे भी नहीं, किसी कामके लिये मुझे बतलावे नहीं, चार दिनके बाद हमारे महलका कमरा खोल सकते हो। इस प्रकार राजा सबको हुकुम देकर एकान्तमें जाकर भगवान्‌का ध्यान करने बैठ गया। भगवान्‌के ध्यानमें मस्त हो गया। मस्त होनेसे राजाका ध्यान लग गया। ध्यान करनेसे समाधि लग गयी फिर समाधि हो गयी। सात

दिनके बाद समाधि अपने-आप खुली। कर्मचारी लोग केवल देखते रहे कि अपनेको कुछ भी नहीं करना है। सातवें दिन जब राजाने किवाड़ खुलवाये तो उन लोगोंने आकर खोल दिये। राजाने पूछा कि आज तीन दिन हो गये क्या? कर्मचारीने कहा—तीन दिन नहीं, महाराज! सात दिन हो गये। आप जिस दिन बैठे थे उस दिन पूर्णिमा थी और आज सप्तमी है। उसको विश्वास हो गया कि सात दिन हो गये। अब राजा विचार करने लगा कि महात्मा तो एक नम्बरका है। चलो उस महात्माका दर्शन कर आयें। महात्माके पास गये और आकर कहा कि महाराज मैंने आपसे अपनी मृत्युसे बचनेका उपाय पूछा था और आपने कहा था कि तीन दिनमें तू मर जायगा। और अब तो महाराज आज सात दिन हो गये। मैं नहीं मरा। महात्मा बोले—तुम्हारेमें "मैं" बाकी है, यह "मैं" मरा नहीं! राजा बोले—"मैं" अहंकार तो मेरेमें नहीं है किंतु मेरा शरीर तो है न। महात्माने कहा कि तुमने कहा न कि मैं मर जाऊँगा और मैंने कहा कि निश्चय। मैंने तुमसे "मैं"के मरनेकी बात कही थी न कि तुम्हारे शरीरके मरनेकी बात कही थी। राजा बोले—महाराज! बात तो ठीक है, अब तो मुझे आपकी कृपासे परमात्माका ज्ञान हो गया और अहंकारका एकदम नाश हो गया किंतु मुझे एक शंका है कि तीन बूँद पीनेसे मैं उन्मत्त हो जाया करता था और आप रोज एक शीशी पीते हैं तो भी उन्मत्त नहीं होते। आपपर उसका असर क्यों नहीं होता? महात्मा बोले—तुम भी तो एक बोतल पी गये उसका असर कहाँ हुआ। राजा बोले—महाराज मुझपर असर न होनेकी यह बात थी कि मुझे तीन दिनके बाद अपनी मृत्यु निकट दीखने लगी—तीन दिनके

बाद मैं मर जाऊँगा। उस भयसे नशेने असर नहीं किया। महात्मा बोले—तुमने तो यह समझा कि तीन दिनके बाद मैं मर जाऊँगा। पर मुझे तो प्रात:काल बीत गया तो सायंकाल मुश्किल और सायंकाल बीत गया तो प्रात:काल मुश्किल। मुझे तो अपनी मृत्यु रोज दीखती है, तीन दिनकी जरूरत नहीं। तो मेरे ऊपर इसका असर कैसे हो? तब राजा बोले—महाराज! अब मैं समझ गया।

ऊपर कही हुई कहानीके कहनेका अभिप्राय यह है कि मनुष्य मृत्युको नजदीक देखे तो उसके भयसे भी भगवान्‌की स्मृति हो सकती है और दामी-से-दामी भजन और दामी-से-दामी भगवान्‌का ध्यान हो सकता है। समय बड़ा मूल्यवान् है। लाख रुपया देनेपर भी एक दिन नहीं मिल सकता। समयको दामी समझे और मृत्युको निकट देखे तो उसका जप और ध्यान उच्चकोटिका बन सकता है। यह भी एक उपाय है। ये खास-खास बातें हमने बता दीं। उपाय तो शास्त्रोंमें बहुत-से हैं। इस प्रकार कोशिश करनेसे अपना जप और ध्यान दामी बन सकता है। भगवान्‌के स्वरूपके ध्यानका लक्षण बताया और उच्चकोटिके नामके जपका स्वरूप भी बतलाया। जप भी दामी होना चाहिये और ध्यान भी दामी होना चाहिये। इसके लिये उपाय भी बतलाया है कि भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम होनेसे वह दामी होता है। निष्काम भावसे किया हुआ दामी होता है। आगे जाकर अपने-आप ही होने लग जाता है वह सब साधनोंका फल है। अपने-आप होने लगता है इसका फल है परमात्माकी प्राप्ति। इस प्रकार हम लोगोंको स्वयं प्रयत्न करना चाहिये। ये सब बातें, आप लोगोंने जो प्रश्न किये थे, उनका जवाब दिया है और कई भाइयोंने कहा है

कि अपने मनमें जो बात आयी हो वह भी कहें वह संक्षेपसे बतलायी जाती हैं। एक तो यह बात है कि कोई बीमार हो, मरनेके नजदीक हो तो सब काम छोड़कर उसकी सेवा करना बड़े महत्त्वकी चीज है। शरीरकी सेवा करनेसे उसके शरीरमें जो बीमारी हो रही है उसके लिये ओषधि देना, जल पिलाना आदि उसकी सेवा करना, उसे टट्टी-पेशाब हो जाय उसे प्रसन्नतासे साफ करना, यदि ऐसा सौभाग्य मिल जाय तो यह सबसे दामी है। उसको भगवान् नारायणका नाम उसकी रुचिके अनुसार सुनाया जाय, कीर्तन किया जाय या उसकी रुचिके अनुसार भजन गाया जाय तो यह और भी उत्तम सेवा है, परम सेवा है। यदि उसकी रुचि गीता, रामायण, भागवत या सत्संगकी बात सुननेकी हो, वह सुनायी जाय तो उससे भी बढ़कर है। इससे सुनानेवाला जो व्यक्ति है उसके हृदयमें अच्छे-अच्छे भाव पैदा होते हैं। प्रथम वक्ताको लाभ होता है और श्रोताको बादमें। जितना लाभ वक्ताको होता है उतना श्रोताको नहीं होता। मेरे हृदयमें जो बात पैदा होगी और मैं आपको कहूँगा तो आपको तो अल्प लाभ होगा, हमें अधिक लाभ होगा। यह बात युक्तिसंगत है। शास्त्र-सम्मत है। जो बात मेरी बुद्धिमें आवेगी भगवान्‌के विषयकी उसको मैं आपलोगोंको कहनेकी चेष्टा करूँगा तो मनसे मनन करूँगा किंतु मनमें मनन करूँगा, उदाहरण गढ़ूँगा तो इतने उदाहरण हमको नहीं मिलेंगे फिर भी अपनी शक्तिके अनुसार उदाहरण देनेकी चेष्टा करूँगा। जो बात मेरी बुद्धिमें है उसका मनमें थोड़ा-सा हिस्सा है और मनके भीतर जो समझमें आयी है उतना भी मैं वाणीके द्वारा नहीं कह सकूँगा। मन तो दो घण्टेका व्याख्यान याद कर लेता है एक मिनटमें ही और

कहनेमें दो घण्टे लगते हैं। वाणीकी इतनी शक्ति नहीं है जितनी मनकी है। और वाणीके द्वारा जो कुछ मैं कहूँगा, सुननेवाले जो भाई हैं अपने कानसे सुनेंगे। सारी बात वे नहीं सुन पावेंगे, क्योंकि कभी-न-कभी उनका मन इधर-उधर चला ही जायगा तो सुननेमें रुपयेमें बारह आना ही होगा और इससे भी कम भले ही हो जाय। जो बारह आने बात सुनी फिर मनमें उसका चित्र कायम नहीं रहेगा। भूल जायगा। जितनी बात मनमें कायम है, उतनी भी उसकी बुद्धिमें धारण नहीं होगी, समझो बीचमें कितने व्यवधान पड़ गये। वक्ताके तो पहले ही हृदयमें वह चीज पैदा हुई और पैदा होकर कही तो कहनेसे उसको भी शरम पड़ती है कि यह बात मैं कहता हूँ तो मुझको भी तो पालन करना चाहिये नहीं तो लोग क्या कहेंगे कि तुम व्याख्यान तो देते हो लच्छेदार, लम्बे-चौड़े, धारण करते कुछ भी नहीं। इस शरमसे इसको धारण करेगा। और वह चीज बढ़िया है तभी तो उसको बढ़िया कहेगा। सबके लिये बढ़िया है तो अपने लिये भी बढ़िया होगी। या लोगोंके लिये ही बढ़िया है? वक्ताके लिये क्या बढ़िया नहीं, तो इससे उसको अधिक लाभ होगा। वह जो लाभ है यह तो उसको होगा ही और उसके अलावा सुननेवालेको वह सुनाता है। उनकी वह परम सेवा करता है और उससे उसका जो उद्धार हो जाता है तो अपनेको भी उसका परम लाभ मिलेगा। उद्धार यदि नहीं भी होगा तो अपने कर्तव्यका जो हम पालन करते हैं उसका जितना उपकार होगा, जितना उसका हित होगा; पैसा हम लेते नहीं, वह एक प्रकारसे समझेगा कि भाई, मैं एक प्रकारसे इनका ऋणी हूँ, यदि वह न समझे तो अपनेको समझानेकी कोई जरूरत भी नहीं। अपने तो जिससे भगवान्‌में

प्रेम हो भगवान्‌का दलाल बन करके वह करना है। भगवान्‌के यहाँ भगवत्प्राप्तिरूप, मुक्तिरूप दलाली मिलेगी और उसका उद्धार हो गया तो फिर पूरी दलाली पक गयी अपनी। सब प्रकारसे अपने लिये फायदा-ही-फायदा है। जितना अपने लिये फायदा है दूसरेके लिये उतना नहीं है। परमसेवासे जो फायदा है ऐसा फायदा सेवासे नहीं, परोपकारसे नहीं, यज्ञ-दान-तपसे नहीं। यहाँतक कि ऐसा लाभ एकान्तमें बैठकर जो भजन-ध्यान करे तो उसमें भी नहीं। आप सत्संग करें तो उससे भी नहीं, क्योंकि वर्षोंसे आप सत्संग कर रहे हैं, आप तौलकर देखो कि कितना फायदा है और वर्षोंसे एकान्तमें बैठकर भजन-ध्यान भी कर रहे हैं, अपनेसे कौन-सा दामी भजन बनतीमें आया किंतु वह तो एक प्रकारसे आ ही गया, इसलिये यह कहना है कि लाख काम छोड़कर उस कामको पहले करना चाहिये। स्वामीजी महाराज व्याख्यान दे करके जो लाभ उठाते हैं उससे ज्यादा लाभ होना चाहिये। जो आदमी मरनेके नजदीक है उसके पास जाकर उसे सुनावें। भगवान्‌की भक्तिमें उसको लगावें। भगवान्‌का भजन-ध्यान उसको सुनावें और करावें तो उसमें बहुत ज्यादा लाभ है। और भी खयाल करना चाहिये कि स्वामीजीका उदाहरण मैंने इसलिये दिया कि स्वामीजी जब लोगोंको सुनाते हैं तो सुननेवाले भाई लोग यह समझते हैं अभी थोड़े ही मरते हैं, इसलिये उनके ऊपर असर पूरा नहीं होता है। जिसको मरना नजदीक दीखता है उसके ऊपर असर होता है। वह चाहे न मरे, जीवित हो जाय किन्तु असर उसपर पड़ जाता है। इसलिये यह बात कही गयी कि उसको सुनानेसे जो फायदा होता है वह बिना इच्छावालोंको और जो लोग अपना मरना नहीं समझते हैं उनको उतना

नहीं होता। यद्यपि मृत्युको अपने निकट कोई नहीं देखता इसीलिये लोग कहते हैं कि अभी हम नहीं मरेंगे। यह सोचना ही आश्चर्यकी बात है। महाराज युधिष्ठिरने यक्षसे यह बात महाभारतके वनपर्वके अन्तमें इस प्रकार कही है—संसारमें लोग दिन-प्रतिदिन यमालयमें जा रहे हैं इसको देखकर भी यदि अपनी मृत्यु नजदीक नहीं दीखती है यही आश्चर्य है। जिनको अपनी मृत्यु नजदीक नहीं दीखती उनको सुनानेकी अपेक्षा जो बीमार है, जिनको अपनी मृत्यु नजदीक दीखती है उनको सुनाना अधिक दामी है, क्योंकि उनके हृदयमें धारण हो जाती है। वह बच जावे तो भी अपनेको फायदा है और मर जाय तब भी अपनेको फायदा है। इस वास्ते यह बात कही थी।

दूसरी बात यह है कि मैंने सुना है कि चूरूमें व्याख्यानदाता एक साधु थे। वे चूरूमें जब आये थे तो उनके आनेके समय मैं भी वहीं था। वहाँ एक सज्जन हैं उनके जगहका भी बहुत प्रबन्ध है जिसमें हजारों आदमी सुननेके वास्ते जावें। वे सज्जन स्वयं खड़ा हो करके आनेवाले आदमियोंकी बहुत खातरी करते थे। उनकी यह चेष्टा थी कि यह किसी प्रकारसे भी आवे, मान-अपमानको छोड़कर, परिश्रमकी तरफ परवाह न करके, जैसे अपने यहाँ दामाद आवे उससे भी बढ़कर खातरी करते और अपने रहनेकी जो जगह है उसमें बड़ी खुशीके साथ, बड़ी प्रसन्नताके साथ देकर उनके साथ व्यवहार करते तो उनकी अच्छी बात हमलोगोंको भी ग्रहण कर लेनी चाहिये। जैसे ईसाई लोगोंने हमारे हिन्दू भाइयोंको देखते-देखते हजारों-लाखोंको ईसाई बना दिया और अब भी बना रहे हैं। वह अपनी एक रुपयेकी पुस्तक दो आनेमें दे रहे हैं और कहीं-कहीं तो मुफ्त भी दे रहे हैं। इससे उनका उनके ऊपर प्रभाव पड़ता है।

कोई बीमार होता है तो उसकी वे सेवा करते हैं, अपने हाथोंसे सेवा करते हैं। जिसकी जीविका नहीं चलती है उसे जमीन और रुपया देते हैं। किसीको २० देते हैं, किसीको ३०, हजार नहीं। किन्तु उसका बड़ा असर पड़ता है। कोई मूर्ख है तो उसे पाठशाला खोलकर क, ख, ग, घ—यहाँ विद्या पढ़ाते हैं, उनके बालकोंको भी और कोई प्रकारकी भी आपत्ति होती है तो उनकी सेवा करते हैं। तो वे समझते हैं कि जिस धर्ममें इस प्रकारका भाव है वही धर्म सबसे बढ़कर है।

कोई हिन्दू जाकर उनको अपने धर्मकी बात कहता है तो वे कहते हैं आग लगे हिन्दू धर्मको, तुम धर्म-धर्म चिल्लाते हो और देखो ये कैसी सेवा करते हैं, तुम्हारे धर्ममें दया, धर्म, सेवाभाव होता तो हम हिन्दू ईसाई क्यों बनते। इस प्रकारसे वे कहते हैं। उनकी वह विद्या हमलोगोंको सीखनी चाहिये। हमलोगोंको कोशिश करनी चाहिये। केवल धर्म--धर्म चिल्लानेसे (हमारा सनातन धर्म, हमारा सनातन धर्म चिल्लानेसे) किसीपर असर नहीं पड़ता। इसलिये धर्मात्मा पुरुषको किस प्रकारसे व्यवहार करना चाहिये, उस प्रकारसे हमारा व्यवहार हो तो उसका असर पड़े। हमलोग उदाहरण देते हैं कि त्रेतायुगमें भगवान् श्रीरामका कैसा बर्ताव था, अलौकिक बर्ताव था, मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामने प्रजाके साथ जैसा व्यवहार किया है, भाइयोंके साथ, अपनी माता और धर्मपत्नीके साथ जैसा व्यवहार किया ऐसा ही हमलोगोंको भगवान् रामको याद करके करना चाहिये। भगवान्‌को याद करके, रामको याद रखते हुए मर्यादा पुरुषोत्तम रामका हम अनुकरण करें, भगवान् रामको याद करके करें तो उनके सामने ईसाइयोंका अपने धर्मका प्रचार-सेवाका भाव कुछ भी नहीं है। किन्तु हमने आपके

सामने ईसाइयोंका नाम इसलिये लिया कि वे आपके सामने हैं, भगवान् रामका जो बर्ताव है वह पुस्तकमें है। इसी प्रकारसे द्वापरमें महाराज युधिष्ठिरका नाम हम लेते हैं, युधिष्ठिरको मारनेके लिये जो आते हैं उनकी भी युधिष्ठिर सेवा करते हैं। दुर्योधन मारनेके लिये आया किन्तु अपने भाई अर्जुन और भीमको कह करके उसे गन्धर्वोंसे छुड़ा करके मँगाया तो उसका असर पड़ा दुर्योधनपर। ऐसे दुष्ट पापी दुर्योधनपर भी इतना असर पड़ा कि उसके मनमें विचार हुआ कि मैं पाण्डवोंके सम्मुख कभी लड़ूँगा नहीं, प्राणोंका त्याग कर दूँगा, मेरे जीवनको धिक्कार है। मैं तो उनको मारनेके लिये गया पर युधिष्ठिरका ऐसा बर्ताव कि गन्धर्वोंसे मुझे छुड़ा दिया। उसपर भी उसका असर हुआ। ऐसा बर्ताव होना चाहिये। किंतु हम सबका जो अपना बर्ताव है यह बहुत ही निम्न श्रेणीका है। जो मैं कह रहा हूँ चूरूके कोई भाई लोग यहाँ होंगे उनको मालूम होगा। बड़े-बड़े आदमी, लखपति आदमी और एक साधारण आदमीकी तरह सबकी सेवा करते हैं और उनको अपनी जगहमें बैठाते हैं, आदर करते हैं और उनकी खातिर करते हैं ऐसे ही अपना यह कर्तव्य हो जाता है कि कोई भी भाई आये तो आनेके समय बड़े चावसे उसको हम जगह दें। और जानेके समय उनको प्रेमसे विदा करें। उनका सामान आदि हम स्वयं कुलीकी माफिक लावें और ले जावें। उनको जो चीज चाहिये हम ला करके उनको दें। ये थोड़ी बात मुनिलालजी कालीकमलीवाले—सेवा करनेवाले थे उनमें भी कुछ थी, तथा यह बात कलकत्तेमें एक अंग्रेज मदर थीं वे कोढ़ियोंकी सेवा किया करती थीं उनमें हमने देखी। उसका असर पड़ा हमारे ऊपर। इस प्रकारसे यदि आप सब भाई

सबकी बड़े चावसे सेवा करें तो समझो कि सबका जीवन बदल सकता है। मान लो फिर कोई आ जाय तो आप कहें कि आओ भैया! आप हमारे कमरेमें ठहरें, वे कहें आप हमारे कमरेमें ठहरें। मान लीजिये जगह बहुत कम है फिर भी किसी प्रकारसे ठहरायें। जैसे बदरिकाश्रम जाते हैं, केदारजी जाते हैं, वहाँ कौन-सा महल है, वहाँ थोड़ी-सी जगहमें ही आप अपना काम चला लेते हैं न? जैसे समझो कि इस गीताभवनमें, गीताभवनके बाहरमें बड़े गीताभवनमें जितने कमरे हैं मैं गीताप्रेसके ट्रस्टीकी हैसियतसे आये हुए भाइयोंको सोच करके जगह देता रहा तो उसमें कोई महत्त्वकी बात नहीं। क्योंकि मैं तो उसमें निमित्तमात्र हुआ। अपनी ड्यूटीका पालन करना चाहिये। ड्यूटीका पालन करना उचित ही है किंतु इस समय रुपयेमें पंद्रह आने जगह लोगोंको विभाग करके दे दी गयी। एक आना जगह और अपने पास गुंजाइश है, और आनेवाले आदमी इस समय ८०० होंगे। कम-से-कम आनेवाले हैं वे ८०० आदमी हैं, जिनको स्वीकृति दी है कि आ जाओ आपको एक जगह दी जानेकी चेष्टा की जा सकेगी किन्तु अब मैं यह विचार करता हूँ जिनको स्वीकृति दी है और वे आ जायँ तो मैं जगह दूँ तो कहाँसे। एक प्रकारसे धर्मसे निवृत्त (च्युत) होना पड़ता है। अब जिस भाईके पास जितनी जगह हो और वे अपनी जगहमेंसे बहुत थोड़ी आप रखकर बाकी जगह आये हुए आदमीको आनन्दके साथ अपने कष्ट सह करके देनेके लिये तैयार हों तो वह जगह जो भाई देता है वह अपना स्वार्थ त्याग करके जगह देता है। हमने जिसको जगह दे दी, उसपर हमारा कोई अधिकार नहीं है। सत्संगकी ड्यूटीतक जितने दिनोंतक वह भाई रहे उतने दिनतक

उसका अधिकार है। दो महीने-चार महीने रहे, चाहे छः महीने रहे, चाहे बारह महीने ही रहे वह उसकी चीज है जो उसको दी गयी है। और यदि वह अपनी पायी हुई चीजमेंसे किसी भाईको दे, अच्छा व्यवहार करे—जगह दे तो उससे वह जिसको जगह दी है वह भी खुश होगा और मैं भी खुश होऊँगा तथा उसपर भगवान् भी खुश होंगे। जो देखेगा उसको भी खुशी होगी और दूसरेपर भी उसका असर पड़ेगा। हमारे व्याख्यानका इतना असर नहीं पड़ सकता जितना असर उसके बर्तावका पड़ सकता है। इस वास्ते बड़े प्रेमके साथ उत्साह दिलाना चाहिये। भाईको यह समझना चाहिये कि उसे सत्संग मिल जायगा। कितने लाभकी बात है। उस सत्संगलाभमें वह उतना मदद करनेवाला हुआ। मेरा जो देना है वह त्याग नहीं है, वह तो आनेवालेका न्याययुक्त हक है। मैंने तो हकका ही प्रदान किया अपनी कोई चीज उनको नहीं दी। अब जो देते हैं वे अपने हकका त्याग करके देते हैं, अपनी चीज देते हैं। उसका महत्त्व इतना ज्यादा है कि मेरा इतना महत्त्व नहीं है। यह बात युक्तिसे और शास्त्रसे सिद्ध है।

अभिमान-त्याग निष्काम भगवदर्थ कर्म

प्रत्येक कार्यमें स्वार्थके त्यागकी तरफ विशेष खयाल करना चाहिये। यह बहुत ही महत्त्वकी चीज है तथा स्वार्थ-त्यागके अभिमानका भी त्याग करना चाहिये। उस अभिमानसे रहित होना चाहिये। सच्चा त्यागी वही है जिसमें त्यागका अभिमान नहीं है। सभी साधनोंमें—(भक्तिके मार्गमें, ज्ञानके मार्गमें और कर्मयोगके मार्गमें निष्काम-भावकी बहुत ही आवश्यकता है)। जैसे वैराग्यकी सभी साधनोंमें आवश्यकता है, इसी प्रकार निष्काम-भावकी भी सभी साधनोंमें आवश्यकता है। कर्म करके उसके फलका त्याग कर देना, आसक्तिका त्याग कर देना यह कर्मयोगका साधन है। निष्काम-कर्मका नाम ही कर्मयोग है।

भक्तिके मार्गमें भगवदर्थ कर्म करना तथा भगवदर्पण-बुद्धिसे कर्म करना बतलाया गया है और ज्ञान-मार्गमें कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होना, कर्मोंमें फलका त्याग ही नहीं करना, बल्कि फलके त्यागसे रहित होना और राग-द्वेषका त्याग नहीं बल्कि राग और द्वेषसे रहित होना सात्त्विक कर्म बतलाया गया है।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥

गीताके १८वें अध्यायके २३वें श्लोकमें सात्त्विक कर्मकी व्याख्या करते हुए भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—अर्जुन! कर्म "**नियतम्**" माने शास्त्रविहित होना चाहिये, शास्त्रके अनुकूल होना चाहिये; और अराग, अद्वेषसे किया जानेवाला होना चाहिये। ऐसा नहीं कहते हैं कि अराग-अद्वेषसे करना बल्कि

कहते हैं कि जो कर्म बिना राग और द्वेषके हो यानि राग-द्वेषके बिना किया जाय—'**अरागद्वेषतः कृतम्**' और "**अफलप्रेप्सुना**"में कर्मके फलका त्याग करना यह बात नहीं कहते हैं। बल्कि '**अफलप्रेप्सुना**' का तात्पर्य यह कि कर्मफलकी इच्छासे रहित ऐसा कर्म सात्त्विक कहा गया है। "**अरागद्वेषतः कृतम्**" और "**संगरहितम्**" द्वेषके साथ जो राग शब्द है उससे आसक्तिसे रहित यह अर्थ लेना चाहिये। जब आसक्तिका अभाव है तो कामनाका अभाव उसके अन्तर्गत ही है । फिर भी आगे साफ फलकी इच्छासे रहित बतला दिया है।

संगरहित, सम्बन्धरहित अर्थात् सम्बन्धविच्छेद किसी भी कर्ममें कर्तापनके अभिमानका त्याग नहीं, बल्कि कर्तापनके अभिमानका अभाव। असंग माने उससे सम्बन्धरहित यानि कर्मोंके साथमें सम्बन्धका त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद कर्म।) आसक्तिसे रहित तथा फलकी इच्छासे रहित हो और शास्त्रविहित हो तथा कर्तापनका अभिमान न हो। इस प्रकारके कर्म उससे होते हैं, वह करता नहीं। यह सात्त्विक कर्मकी व्याख्या सांख्यकी दृष्टिसे बतलायी गयी है। गीताके १८वें अध्यायके २३वें श्लोकमें जहाँ भगवान्‌ने सांख्यकी दृष्टिसे व्याख्या की है, वहाँ भगवान्‌ने सब प्रकारका अभाव बतलाया है त्याग नहीं। सांख्यका प्रकरण गीताके १८वें अध्यायमें १३वें श्लोकसे आरम्भ होता है, पहले कर्मयोगका प्रकरण था। कर्मयोगमें जो कर्म किये जाते हैं वे भी शास्त्रविहित होते हैं, थोड़ा प्रकारका भेद है। इसी १८वें अध्यायके नवें श्लोकमें सात्त्विकके नामसे जो बात कही है वह कर्मयोगकी दृष्टिसे कही है—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥

यहाँ कहते हैं कि "**कार्यम्**" यानी करना ही कर्तव्य है कर्तव्यबुद्धिसे, संग और आसक्तिको त्याग करके किया जाय। संग माने आसक्ति और फलकी इच्छा। इनका त्याग करके जो शास्त्रविहित कर्म किये जाते हैं। साधक सात्त्विकभावसे कर्म करता है। कर्म करना ही कर्तव्य है इस कर्तव्यबुद्धिसे करता है।—"**नियतं क्रियते**" बतलाया। भगवान् कहते हैं कि कर्तव्यबुद्धिसे शास्त्रविहित जो कर्म आसक्ति और फलका त्याग करके किया जाता है वह सात्त्विक त्याग है। यदि यहाँ सात्त्विक कर्म कर दिया जाय तो वहाँ १८। २३में सांख्यकी दृष्टिसे जो सात्त्विक कर्म बतलाये गये और यहाँ भी सात्त्विक कर्म इसका नाम रखा जाय तो आपसमें टक्कर लगेगी। १८। २३में सात्त्विक कर्ममें उसे सांख्यदृष्टिसे कह दिया और योगकी दृष्टिसे उन्होंने त्यागके नामसे १८। ९में यह बात कही। सांख्यकी दृष्टिमें कर्मोंका समर्पण है गुणोंके ऊपर, गुणोंको सँभला देता है, गुणोंके समर्पण कर देता है, गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

(१४। १९)

तात्पर्य यह कि जिस कालमें सांख्ययोगका साधक गुणोंसे अन्य कर्ताको नहीं देखता है, अन्य कर्ताको नहीं समझता है बल्कि ऐसा समझता है कि गुण ही गुणमें बर्तते हैं और अपने आत्माको गुणोंसे, कर्मोंसे, शरीरसे अलग देखता है। आत्मा अलग है, आत्मा चेतन है और ये सब चीजें जड हैं। जिस कालमें द्रष्टा साक्षी हुआ, यह पुरुष गुणोंसे अन्यको कर्ता नहीं देखता और आत्माको अलग देखता है, भगवान् कहते हैं—उस कालमें वह मेरे भावको यानी मेरे सच्चिदानन्दघन

स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। गीताके तीसरे अध्यायके २८वें श्लोकमें इसका खुलासा किया गया है। २८वें श्लोकमें जो बात कही है वह प्रकारान्तरसे आगे जाकर १४वें अध्यायके १९वें श्लोकमें भी कही है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥

(गीता ३। २८)

हे महाबाहो! जो पुरुष तत्त्ववेत्ता है, गुण और कर्मके विभाग-रहस्यको जाननेवाला है, वह समझता है कि गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं। ऐसा समझ करके वह आसक्त नहीं होता। और पाँचवें अध्यायके ८वें और ९वें श्लोकोंमें भी प्रकारान्तरसे यही बात कही है—

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

इन्द्रियाँ ही अपने-अपने अर्थोंमें बर्त रही हैं ऐसी धारणा करके—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।

तत्त्ववेत्ता पुरुष ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ, तो कर्तापनका अभाव बतलाया है—

जैसे—**पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥** आदि तत्त्ववेत्ता पुरुष देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, गन्ध लेता हुआ, खाता हुआ, जाता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ इन्द्रियाँ ही अपने अर्थमें बर्त रही हैं ऐसा मानता है।

इन्द्रियाँ ही अपने अर्थोंमें बर्त रही हैं, यानी नेत्रेन्द्रिय रूपको देखती है, कर्णेन्द्रिय शब्दोंको सुनती है, आत्मासे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। कहीं तो कह दिया कि ज्ञानी पुरुष कर्मोंको

शरीरके ऊपर छोड़ देता है। कहीं दिखला दिया कि इन्द्रियोंके ऊपर छोड़ देता है, कहीं कह दिया कि गुणोंके ऊपर छोड़ देता है, बात एक ही है। इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंका विषय और शरीर—यह गुणोंका ही विस्तार है। सत्, रज, तम—इन तीनों गुणोंका ही यह सब विस्तार है। इसलिये बात एक ही है। ज्ञानके मार्गवालेके लिये तो प्रकृतिके कार्य गुण और उनके कार्य मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रियाँ और पाँच भूत तथा पाँच इन्द्रियोंका विषय इत्यादि जो यह शरीरका समूह है, अव्याकृत माया और मायाका समूह यह शरीर एवं शरीरमें जितने तत्त्व हैं ये प्रकृतिके तत्त्व हैं। सब प्रकृतिका स्वरूप है। ज्ञानमार्गवाला क्रियाको प्रकृतिपर छोड़ देता है। "**कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते**" दस कार्य (पाँच भूत और पाँच विषय), तेरह करण यानी दस ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और तीन मन, बुद्धि, अहंकार, अन्तःकरण—ये २३ पदार्थ प्रकृतिसे उत्पन्न हुए हैं और इनसे ही क्रिया होती रहती है। ज्ञानके मार्गवाला ज्ञानी पुरुष आत्माको क्रियारहित समझता है। गुणोंसे रहित, कर्मोंसे रहित, क्रियासे रहित, आकारसे रहित, विकारसे रहित आत्मा निर्विकार है, अक्रिय है, ऐसा समझता है। जो कुछ घटना या क्रिया होती है सब इस शरीरपर ही छोड़ देता है। शरीरके जो तत्त्व हैं अंग कहो, या तत्त्व कहो, शरीरमें जितने पदार्थ हैं, इनपर ही छोड़ देता है और ईश्वरका भक्त ईश्वरपर छोड़ देता है। यदि उसमें कर्तापनका भाव है तो यह मानता है कि मैं ईश्वरके लिये करता हूँ। भगवान् कहते हैं कि—

"**मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥**"

(गीता १२। १० उत्तरार्द्ध)

मेरे अर्थ भी कर्म करता हुआ परम सिद्धिको प्राप्त हो

जाता है। यदि मेरेमें समर्पण कर देता है तो उसकी बात ही क्या है? और कर्मोंको करके भगवान्‌को समर्पण करना उसकी अपेक्षा वह और ऊँचे दर्जेका है कि खुद भगवान्‌की कठपुतली बन जाता है, और भगवान् ज्यों करवाते हैं वैसे उससे कर्म हो जाते हैं। वह करता नहीं है। जैसे ज्ञानके मार्गमें कर्तापनका अभाव दिखलाया, प्रकृतिमें कर्मोंको छोड़ करके और भक्तिके मार्गमें भी कर्तापनका अभाव दिखलाया भगवान्‌में कर्मोंको छोड़ करके। "**चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः**" भगवान् गीताके १८वें अध्यायके ५७वें श्लोकमें कहते हैं कि चित्तसे सारे कर्मोंको मेरेमें समर्पण करके मेरी शरण आ जा। गीताके पाँचवें अध्यायमें अपने कर्मोंको छोड़नेकी बात इन्द्रियोंपर, विषयोंपर छोड़ दी कि इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके विषयोंमें बर्त रही हैं, मैं कुछ भी नहीं करता ऐसा ज्ञानी मानता है, भक्तिके मार्गमें यह बतलाया कि—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

(गीता ५। १०)

जो परमात्मामें कर्मोंको समर्पण करके नाममात्रका कर्ता होकर कर्म करता है वह पापसे लिपायमान नहीं होता। जैसे कमलका पत्ता जलमें उत्पन्न होता है और जलमें ही रहता है किन्तु जलमें रह करके जलको स्पर्श नहीं करता। यह संसार पापमय है, ऐसे इस पापमय संसारमें रहकर भी वह पापके द्वारा लिपायमान नहीं होता। संसारमें जन्म लेकर और संसारमें रहकर भी उन कर्मोंसे वह रहित है और संसार भी पापमय है और कर्म भी पापमय है किन्तु जो आदमी सब कर्मोंको भगवान्‌के समर्पण कर देता है वह फिर उस पापसे लिपायमान नहीं होता।

प्रकरण यह चलता है कि अपनेमें जबतक कर्तापनका अभिमान है तबतक उसे यह विचार करके कर्मोंमें अपनी आसक्ति और कर्मके फलकी इच्छाका त्याग कर देना चाहिये और इससे भी बढ़कर यह बात है कि भगवदर्थ कर्म किया जाय और इसमें भक्ति भी शामिल हो जाय तो उसका दर्जा और भी ऊँचा बन जाय; क्योंकि जो कर्म करता है उसमें कर्तापनका अभिमान तो है पर वह शुद्ध अभिमान है, वह अपने लिये नहीं करता, बल्कि भगवान्‌के लिये करता है। जो भी कुछ करता है वह भगवान्‌के लिये करता है। जैसे रुपयोंका दास दिनभर जो चेष्टा करता है वह रुपयोंके लिये करता है। वह एकनिष्ठ रुपयेका दास है। इस प्रकार भगवान्‌का जो एकनिष्ठ भक्त होता है वह सारी क्रिया भगवान्‌के लिये ही करता है। जब आगे और बढ़ जाता है तो उसकी सारी क्रिया भगवान्‌के लिये होती है वह करता नहीं। वह अपने-आपको, अपने मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रियोंको—क्रियाको सबको भगवान्‌में समर्पण कर देता है फिर भगवान् ही उससे कर्म करवाते हैं। जैसे कठपुतलीको सूत्रधार जैसे-जैसे नचाता है वैसे ही कठपुतली नाचती है। इसी प्रकारसे जो भगवान्‌की कठपुतली बन जाता है फिर उससे सब कर्म भगवान् ही करवाते हैं। यह भक्तिके मार्गमें उत्तम मार्ग है। इसमें कर्तापनके अभिमानका अभाव है, कर्मयोगमें भी ममता और अहंकारका अभाव बतलाया है।

ममता और अहंकार तो ऐसी गंदी चीज है कि ये त्यागनेके योग्य ही हैं। किसी भी मार्गसे चलें आगे जाकर उनका त्याग हो ही जाता है। बुद्धिमान् आदमी तो पहलेसे ही त्याग कर देते हैं, नहीं तो आगे जाकर त्याग हो ही जाता है। उच्चकोटिके

पुरुषमें जो परमात्माके नजदीक पहुँचता है वह किसी भी मार्गसे चले, उसमें ममता और अहंकारका त्याग आ ही जाता है। जबतक अहंता है तबतक साथमें ममता है ही, क्योंकि ममता कार्य है और अहंता कारण है। कार्य जहाँ है वहाँ कारण अवश्य है। भगवान्‌ने कर्मयोगमें ऊँचे दर्जेमें भी अहंता-ममताका त्याग बतलाया, भक्तियोगमें भी बतलाया और ज्ञानयोगमें भी बतलाया यह आपको खयाल करना चाहिये। कर्मयोगमें तो गीताके दूसरे अध्यायके ७१वें श्लोकमें—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंका, स्पृहाका त्याग करके यानी स्पृहासे रहित हो करके, अहंता-ममतासे रहित हो करके संसारमें विचरण करता है वह शान्तिको यानी परमशान्तिको प्राप्त होता हैं। यह कर्मयोगका प्रकरण है।

अर्जुनने गीताके दूसरे अध्यायके ५४वें श्लोकमें पूछा था कि कर्मयोगी किस प्रकारसे संसारमें विचरण करता है? उसके विचरण करनेकी बात बतलायी यानी वह कैसे करता है, कैसे चलता है—इस बातको बतलाया—पैरोंसे चलता है यह बात नहीं, क्योंकि चलनेका मतलब है कि किस प्रकार वह आचरण करता है। इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि जो कर्मयोगी है, जो स्थितप्रज्ञ पुरुष है वह किस प्रकारसे आचरण करता है—वह सारे पदार्थोंमें, सारे कर्मोंमें कामनाओंका त्याग करके और अहंकार तथा ममतासे रहित हो करके निःस्पृह-भावसे विचरण करता है। इससे उसे परमशान्ति मिलती है अथवा वह परमशान्तिको प्राप्त होता है।

भक्तिके मार्गमें गीताके १२वें अध्यायके १३वें तथा १४वें श्लोकमें बतलाया है कि—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

ऐसा मेरा भक्त मुझको प्यारा है। कैसा आपका भक्त आपको प्यारा है? जो प्राणिमात्रमें द्वेषभावसे रहित, हेतुरहित, सबपर दया करनेवाला, सबसे प्रेम करनेवाला है, ममतारहित और अहंकाररहित है, क्षमावान् तथा सुख और दुःखमें सम है, जो कुछ दैवेच्छासे आ करके प्राप्त हो जाय उसीमें सदा सन्तुष्ट है, जिसकी बुद्धि स्थिर है, मन वशमें है, जिसने मनको जीत लिया है और मनको जीत करके, बुद्धिको स्थिर करके, बुद्धि और मन दोनोंको मेरेमें समर्पण कर चुका है ऐसा मेरा भक्त मुझे प्यारा है। यहाँ भक्तिके मार्गमें उच्चकोटिके भक्तमें अहंता-ममताका अभाव बतलाया।

ज्ञानके मार्गमें गीताके अठारहवें अध्यायके ५०वें श्लोकमें यह बात कही कि ज्ञानकी जो परानिष्ठा है वह तू मुझसे सुन, मैं तुमसे कहूँगा। यह प्रतिज्ञा करके ५३वें श्लोकमें कहते हैं—

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

इसमें अहंकारके माने है बलका अभिमान और दर्प माने घमंड। काम-क्रोध और भोग-सामग्रियोंसे रहित हुआ, ममतारहित, शान्तचित्त पुरुष परमात्माकी—ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये समर्थ होता है—ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

जो पुरुष ब्रह्मभूत है, ब्रह्मके स्वरूपमें जिसकी स्थिति है, जिसका यह भाव हो गया है कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ', उसके चित्तमें हर वक्त प्रसन्नता रहती है, ज्ञानके मार्गद्वारा जो उच्चकोटिका साधक बन चुका है वह न तो किसी बातका शोक करता है और न कोई आकांक्षा करता है। "**न शोचति न काङ्क्षति**"। वह मेरी पराभक्तिको यानी तत्त्वज्ञानको प्राप्त हो जाता है। उस तत्त्वज्ञानसे मुझ परमात्माको ज्यों-का-त्यों जानकर फिर मेरेमें प्रवेश कर जाता है। ज्ञानके मार्गमें भी अहंता और ममताका त्याग बतलाया और भक्तिके मार्गमें भी तथा कर्मयोगके मार्गमें भी। भक्तिके मार्गमें भगवदर्थ कर्म करनेके समय शुद्ध अहंकार रहता है स्वार्थ न रहनेके कारण उससे वह पापमें लिपायमान नहीं होता। फिर आगे जा करके वह अहंकार भी मिट जाता है। इसी प्रकार कर्मयोगमें फल और आसक्तिका त्याग करके जो कर्म करनेवाला है उसमें स्वार्थ और आसक्ति—सबका त्याग है। इस वास्ते कामनाका भी उसमें अभाव है, इसलिये वह पापका भागी नहीं होता। उसमें जो शुद्ध अहंकार रहता है वह अहंकार नहींके बराबर ही है। आगे जाकर उस अहंकारका भी विनाश हो जाता है। इसलिये यह समझ लेना चाहिये कि परमात्माकी प्राप्ति किसी भी मार्गसे हो उसमें न कामना रहती है न आसक्ति रहती है। यानी राग-द्वेष भी नहीं रहते और अहंकार, ममताका भी अभाव हो जाता है।

आगे जा करके अहंकारका, ममताका, कामनाका, आसक्तिका—इन सबका अभाव हो जाता है। चाहे कर्मयोगको द्वार बनाकर

साधन करो, चाहे ज्ञानयोगको द्वार बना करके साधन करो, चाहे भक्तियोगको द्वार बनाकर साधन करो। सबका आखिरी नतीजा एक ही होता है। सबमें समता आ जाती है। साधनमें भी समताकी आवश्यकता है और सिद्धमें तो समता आ ही जाती है। जिसमें समता नहीं है वह साधक साधक नहीं और वह सिद्ध सिद्ध नहीं। जबतक अहंकार है, ममता है तबतक उसका दर्जा नीचा है, चाहे कर्मयोगी हो, चाहे सांख्ययोगी हो, चाहे ज्ञानयोगी ही हो। आसक्तिके अभावके बिना किसी भी कार्यकी सिद्धि नहीं होती। जब आसक्तिका अभाव हो जाता है तो फिर आसक्तिके साथ ही काम और क्रोधका भी अभाव हो जाता है। क्योंकि संग यानी जो आसक्ति है उसीसे काम उत्पन्न होता है, कामसे क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे मोह उत्पन्न होता है। आसक्तिका अभाव होनेसे सारे विकारोंका अभाव हो जाता है—

सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गीता २। ६२-६३)

संसारके भोगोंमें आसक्ति क्यों उत्पन्न होती है? विषयोंका चिन्तन करनेसे होती है। तो विषयोंका चिन्तन करना ही हमारे लिये पापके तुल्य है। विषयोंका ध्यान करते हुए पुरुषमें आसक्ति पैदा हो जाती है और आसक्ति सारे अनर्थोंका मूल है।

आसक्तिसे कामना उत्पन्न होती है और कामनाकी पूर्तिमें कहीं आघात पड़ता है, व्याघात पड़ता है, क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे मोह-अज्ञान उत्पन्न होता है फिर मोहसे स्मरणशक्ति ठीक नहीं रहती, जिससे उसका विनाश हो जाता है।

स्मरणशक्तिके विभ्रमसे बुद्धिका नाश हो जाता है। बुद्धिके नाश होनेसे खुदका पतन हो जाता है। यह क्रम दिखलाया। इससे यह बात सिद्ध हुई कि आसक्ति सब अनर्थोंकी मूल है। आसक्तिके त्याग बिना किसी भी कार्यकी सिद्धि नहीं होती। इससे हमलोगोंको आसक्तिका त्याग अवश्य ही करना चाहिये। आसक्ति सारी क्रियामें, सारे पदार्थोंमें, शरीरमें, सब इन्द्रियोंमें घर करके बैठी हुई है। आसक्तिका कार्य जो 'काम' है, वह घर कर बैठा है। भगवान्‌ने गीताके तीसरे अध्यायमें बतलाया है कि यह काम ही तुम्हारा शत्रु है। यह मन, बुद्धि, इन्द्रियों और बुद्धिपर थाना डालकर—इसपर कब्जा करके बैठा है। इस वास्ते इस पापी कामको तुम मारो, वह काम जिसकी उत्पत्ति आसक्तिसे होती है, वही सारे पापोंका, अनर्थोंका मूल है।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

यह काम ही क्रोध है। क्योंकि "**कामात् क्रोधोऽभिजायते**" कामसे क्रोधकी उत्पत्ति होती है और इसकी उत्पत्ति रजोगुणसे होती है। शंका होती है कि वहाँ तो यह बात कही कि "**सङ्गात् संजायते कामः**" आसक्तिसे कामकी उत्पत्ति होती है और यहाँ आप कहते हैं कि रजोगुणसे इसकी उत्पत्ति है तो पूर्वापरमें विरोध आता है, इसकी उत्पत्ति रजोगुणसे है या आसक्तिसे? दोनों एक ही चीज है। "**रजो रागात्मकं विद्धि**" रजोगुणको तू राग ही समझ, जो रजोगुण है वही राग है, राग माने आसक्ति है अर्थात् जो आसक्ति है वही रजोगुण है। जहाँ-जहाँ विषय आया है, यज्ञमें, दानमें, तपमें, किसीमें आसक्ति हो तो आसक्तिसे उत्पन्न होनेवाली कामना उसमें

आ जाती है। जिसमें कामना एवं आसक्ति है वह राजसी कर्म है, चाहे यज्ञ हो, दान हो या तप हो, चाहे कुछ भी हो। रजोगुण और आसक्ति दोनों एक ही चीज है। जिससे कामकी उत्पत्ति हो वह है रजोगुण यानी आसक्ति। आसक्ति सब अनर्थोंका मूल है वह आसक्ति प्रधानतासे सारे ही संसारमें व्याप्त है। परन्तु कंचन, कामिनी, मान-बड़ाई और ईर्ष्यामें वह विशेषरूपसे विराजमान है—

कंचन तजना सहज है सहज तिया का नेह।
मान बड़ाई ईर्ष्या दुर्लभ तजना एह॥

कंचन माने सोना और रुपया आदि—रुपया देखनेमें तो कागज है, किन्तु इसका नाम कंचन ही समझना चाहिये। मतलब धनसे है। इनका त्याग करना सहज है। सहज तो नहीं, अपेक्षाकृत सहज है। कंचनके बाद आयी कामिनी, कामिनीका त्याग करना उससे और कठिन है, यानी स्त्री-भोगका त्याग करना। मनुष्य इन दोनोंको त्याग भी दे तो आगे जो घाटी है वह इससे भी कठिन है मान, मानसे भी बढ़कर बड़ाई है, बड़ाईके लिये मानको भी त्याग देता है—लोग मेरी कीर्ति करेंगे तो मान-प्रतिष्ठाको छोड़ो कीर्तिके लिये मान-प्रतिष्ठाको छोड़ देता है, उससे भी और कठिन त्याग है ईर्ष्या, यानी संसारमें लोग मेरी इज्जत करते हैं, कोई कहते हैं अच्छा पुरुष है, योगी है, महात्मा है, कोई कहता है ज्ञानी है, कोई कहता है कि भक्त है—किन्तु यह सुनकर भी मनुष्यके हृदयमें यह बात आती है कि मुझसे बढ़कर कोई दूसरा श्रेष्ठ कायम न रहे। कोई कहता है कि अमुक आदमी तो बहुत ही अच्छा है, किन्तु उससे वह महात्मा और बढ़कर है। वह यह सुनना नहीं चाहता। जबतक मनके अन्दर अज्ञान रहता है, जबतक

परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक यह बात अखरती है। ये पाँच आसक्तिके प्रधान स्थान हैं और छठा है शरीर, शरीरमें सबसे बढ़कर है, शरीरके आरामको जल्दी छोड़ना नहीं चाहता। मान लेता है कि यह शरीर ही मेरी आत्मा है—शरीर ही खुद बना हुआ है। समझदार तो यों समझता है कि शरीर मैं नहीं, किन्तु शरीरके अन्दर मैं हूँ, यह शरीर मेरा है, तो शरीरमें जो अहंता है वह तो बहुत ही खराब है और ममता जो है वह भी बहुत ही खराब है, ममता और अहंता होनेके कारण शरीरमें विशेष आसक्ति है। और औरोंमें जो आसक्ति है वह अधिकांशमें शरीरको लेकर ही है। इसलिये इस अहंता-ममताका और आसक्ति तथा कामनाका जो त्याग करके संसारमें विचरण करता है, वही उच्चकोटि-महात्मा पुरुष है। इसलिये कामनाका सर्वथा त्याग करना चाहिये। किसीके साथमें व्यवहार करनेमें स्वार्थका त्याग करना चाहिये। जैसे हम रेलगाड़ीमें जाते हैं तो वहाँ भी स्वार्थ सिद्ध हो ही जाता है। उसमें तीन प्रकारका बर्ताव है—एक सात्त्विक है, एक राजसी है और एक तामसी है। तामसी व्यवहार तो कभी करना ही नहीं चाहिये और राजसी व्यवहार नीतिका व्यवहार है। नीतिको राजसी क्यों कहना चाहिये। शंका होती है कि नीति और न्याय तो अच्छा व्यवहार है। हम उसे अच्छा मानेंगे तो आगे नहीं बढ़ सकेंगे, इसलिये यही समझना चाहिये कि जैसे तीन प्रकारका दर्जा है उसी प्रकारसे नीतिका व्यवहार भी एक प्रकारका नीचा दर्जा है। हाँ, अनीतिसे तो अच्छा है। फिर नीतिसे अच्छा कौन व्यवहार है? नीतिसे बढ़कर धर्मशास्त्र है—धर्मका व्यवहार है। धर्मके भी दो भेद हैं। एक सकाम और एक निष्काम। सकाम धर्म राजसी है और निष्काम धर्म

सात्त्विक है। इसलिये नीतिके व्यवहारको भी राजसीके साथमें ही शामिल कर देना चाहिये। यदि सात्त्विकमें करना चाहें तो यह समझना चाहिये कि उसका कोई फल नहीं है। इसे आपको मैं उदाहरणसे समझाता हूँ—हमलोग रेलमें जाते हैं, हमारी सीट रिजर्व है, रात्रिका वक्त है, हम चार भाई उस डब्बेमें हैं और चारों अपनी-अपनी सीटपर लेट रहे हैं। एक पाँचवाँ आदमी और टिकट ले करके आ गया। सीट चार ही है वह बेचारा डब्बेमें जहाँ जगह है वहाँ आ करके बैठना चाहता है या बैठ गया। जब वह आ करके बैठ गया तो नीतिके हिसाबसे हम टी०टी० से कहकर उसे डब्बेसे हटा सकते हैं कि यह कायदा नहीं है, रात्रिमें डब्बेमें जितनी सीटें हैं उतने ही आदमी रहने चाहिये तो टी०टी० उसको हटा देगा। यह नीतिकी बात है। किन्तु साथमें अपना स्वार्थ रहनेसे यह राजसी बात है सात्त्विक नहीं। एक डब्बेमें पाँच सीट है और आदमी चार हैं। एक सीट खाली है। एक भाई दो सीट काममें लाता है कहता है कि एकपर मेरा सामान है और एकपर हम सोयेंगे। उसका वह व्यवहार तामसी व्यवहार है, यह अनीतिका व्यवहार है। कानूनसे वह इस प्रकार नहीं कर सकता। भीतरसे बन्द कर लिया कपाट भी नहीं खोलता—जगह खाली होनेपर भी कपाट नहीं खोलता यह अनीतिका व्यवहार है। दूसरा उदारताका व्यवहार है, जैसे कोई आ गया तो उसको जगह दे देना चाहिये चाहे वह बैठे रहे। हम इस बेचारेको क्यों रोकें यह तो नीतिकी बात है, इससे बढ़ करके और धर्मका जो व्यवहार है वह ऊँचे दर्जेका है—उदारताका है। वह कहता है कि भाई, नीचे क्यों बैठते हो आप मेरी सीटपर बैठ जाओ, मैं भी बैठ जाऊँगा। रिजर्व है तो क्या

बात है। मैं इस सीटपर सोता रहूँ आप नीचे बैठे रहें यह मुझे अच्छा नहीं मालूम देता। मेरी आत्मामें ऐसा प्रतीत होता है कि तू अनुचित व्यवहार कर रहा है। आप बैठ जाइये संकोच मत कीजिये। यह उसका व्यवहार धर्मकी दृष्टिसे दयाका है, त्यागका व्यवहार है। इससे भी हम और बढ़ जायँ कहें कि भैया! हम तो बहुत दूरसे आ रहे हैं, इसपर मजेसे लेट रहे हैं अब थोड़ी देर तुम लेट लो। हम एक किनारे बैठे रहेंगे तुम आरामसे इसके ऊपर लेट लो। यह और भी उदारताका व्यवहार है।

गाड़ी चलनेकी तैयारीमें है और एक प्रथम श्रेणीका मुसाफिर है उसे जगह नहीं मिलती। उसे बुलाकर कहते हैं भाई चले आओ। वे पूछते हैं इसमें सीट खाली है? वे कहते हैं, खाली नहीं है, फिर भी समझ लो खाली है। उसको उदारतासे आवाहन कर लिया—बुला लिया और बैठा लिया। यह उदारताका व्यवहार हैं। इसके भी दो भेद हैं—एक तो हम अपनी किसी कामनाके वास्ते उसे कर रहे हैं और एक निष्काम-भावसे कर रहे हैं। कामना क्या? कामना यह कि हम देखें कि यह अमुक इन्सपेक्टर है इस वक्तपर इसकी थोड़ी खातिरी कर देंगे तो समयपर हमारे काम आयेगा। यह उसमें स्वार्थ है। ऐसा व्यवहार ऊँचे दर्जेका है किन्तु वह सकाम होनेसे राजसी है। सात्त्विक नहीं है या यों समझ लें कि कोई साधु आ गये और उनको बैठा लिया क्योंकि साधुकी सेवा करनेसे अच्छा पुण्य होता है और परलोकमें अच्छा लाभ होता है। उसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है, लोकमें उसकी कीर्ति होती है तो कहता है आइये महाराज! ऐसा कहकर बुलाकर बैठा लिया। स्वयं नीचे बैठ गया और उसे सीटपर सुला दिया। महाराजने

कहा—वाह साहब वाह! तुम तो भगवान्‌के भक्त हो, बहुत अच्छे आदमी हो, जाकर लोगोंमें कीर्ति करे कि आज हमको जगह नहीं मिलती, सेठजीने हमको जगह दी। बड़े अच्छे आदमी हैं, अच्छे पुरुष हैं, भगवान्‌के भक्त हैं, हम फूल गये, खुश हो गये। काम तो हमने अच्छा किया किन्तु मान-बड़ाईके लिये किया या अपने परलोकके लाभके लिये किया। मान-बड़ाईकी अपेक्षा स्वर्गकी प्राप्ति उत्तम दर्जेकी चीज है और स्वर्गकी प्राप्तिकी अपेक्षा मुक्तिकी इच्छा की तो वह और उत्तम दर्जेकी चीज है। यदि कोई भी इच्छा न करके अपना कर्तव्य समझकर कार्य किया तो वह सबसे बढ़ करके है। वह असली निष्काम है! हमलोगोंको स्वार्थका भी त्याग कर देना चाहिये और उस त्यागका भी त्याग कर देना चाहिये। त्यागका भी त्याग यह है कि त्याग करनेका अभिमान नहीं आना चाहिये कि मैंने कुछ त्याग किया है। त्यागका यदि अभिमान आ जायगा तो कर्मके फलका त्याग होनेपर भी परलोकमें हम फलके भागी होंगे।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

गीताके दूसरे अध्यायके ४७वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि अर्जुन! तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलमें तुम्हारा अधिकार कभी नहीं है। जब अधिकार नहीं है तो फिर फलकी इच्छा करना एक प्रकारसे अनधिकार चेष्टा है। जब अधिकार नहीं तो फलकी इच्छा तुम्हें नहीं करनी चाहिये। फिर कहते हैं—कर्मके फलका हेतु भी मत बनो। कर्मके फलका हेतु बनना क्या है? कि इस कर्मके फलका मैंने त्याग कर दिया। मैं कर्मके फलका त्यागी हूँ, मैंने कर्म किया, कर्मके

कर्तापनेका अभिमान, ममताका अभिमान और उसके फलके त्यागका अभिमान, उसमें आसक्तिके त्यागका अभिमान, यह जो अभिमान है, आसक्ति है, वासना है, ममता है, ये सब कर्मफलके हेतु हैं। यह होनेसे उसे कर्मका फल मिलेगा। इसलिये भगवान् कहते हैं कि कर्मके फलका हेतु भी तू मत बन। शंका होती है कि जब कर्मके फलका हेतु मैं न बनूँ तो कर्म करूँ भी क्यों? तो भगवान् कहते हैं कि कर्मके न करनेमें भी तुम्हारी आसक्ति नहीं होनी चाहिये। न तो कर्म करनेमें आसक्ति होनी चाहिये और न कर्म न करनेमें आसक्ति होनी चाहिये, क्योंकि जो परमात्माको प्राप्त हो जाता है, उसके लिये भगवान्ने तीसरे अध्यायके १८वें श्लोकमें यह सर्टीफिकेट दिया है—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

जो परमात्माको प्राप्त हो जाता है, उसके लिये यह बात कही है। ऐसे पुरुषको कर्मोंके करनेमें भी प्रयोजन नहीं और कर्मोंके न करनेमें भी प्रयोजन नहीं। करनेमें और न करनेमें यानी ग्रहण और त्यागमें दोनोंमें ही समता है। सारे भूत-प्राणियोंमें उनका प्रयोजनका जो आश्रय है, किंचिन्मात्र भी नहीं रहता। किसीमें भी उसका प्रयोजन, यानी अर्थकी सिद्धिके लिये किसी भूतमें उसका सम्बन्ध नहीं रहता, ऐसा जो पुरुष है वह महात्मा पुरुष है। जिसको महात्मा बनना है, उसके लिये यह साधन बतलाया।

आपने स्वार्थका त्याग किया, आपने आसक्तिका त्याग किया किन्तु स्वार्थ और आसक्तिका त्याग क्यों किया? कीर्तिके लिये, स्वर्गकी प्राप्तिके लिये, तो वह भी एक प्रकारका फल ही

है। और उसका भी आपने त्याग कर दिया, क्यों त्याग दिया मुक्तिके लिये? मुक्तिकी जो कामना है, वह कामना नहीं बल्कि निष्कामके ही तुल्य है; किन्तु फिर भी कामनाकी जातिका तो है ही। असली निष्काम पुरुष तो वह है जिसके हृदयमें मुक्तिकी भी कामना नहीं है। भक्तिमें भी यही बात है, स्वयं भगवान् कहते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

चार प्रकारके सुकृतीजन मुझे भजते हैं एक अर्थार्थी, एक आर्त्त, एक जिज्ञासु और एक ज्ञानी। अर्थकी इच्छा करनेवाला अर्थार्थी है, उससे तो आर्त्त श्रेष्ठ है, क्योंकि आर्त्त भगवान्‌को रात-दिन तंग नहीं करता, वह आपत्तिकालमें संकट-निवारणके लिये करता है, जैसे द्रौपदी। जिज्ञासु वह है जो मुक्तिके लिये भगवान्‌को भजता है, जो आत्माके कल्याणके लिये, भगवान्‌का तत्त्व जाननेके लिये भजता है, ज्ञानी एकदम निष्कामी है सिद्ध पुरुष, महात्मा या उच्चकोटिका साधक जो एकदम निष्कामी। उन सबमें निष्कामी ज्ञानी श्रेष्ठ है। अपनेको तो ज्ञानी बनना चाहिये, अज्ञानी क्यों बनें। तीनोंमें अज्ञान सिद्ध किया गया। अर्थार्थीमें अधिक अज्ञान है, आर्त्तमें उससे कम और जिज्ञासुमें उससे भी कम है वह शुद्ध अभिमान है। और सिद्ध पुरुष जो है उसमें तो है ही नहीं, किन्तु उच्चकोटिके ज्ञानी यानी निष्कामीमें भी नहीं है। इसकी भगवान्‌ने प्रशंसा की है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७। १७)

यानी उनमें एक भक्तिवाला जो ज्ञानी है वह श्रेष्ठ है,

उन चारोंमें उस ज्ञानीको मैं अतिशय प्यारा हूँ इसलिये ज्ञानी मुझको अतिशय प्यारा है।

"उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्"

"एते सर्वे उदाराः" सभी भक्त उदार हैं और ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है, मेरा स्वरूप ही है, मेरेसे अभिन्न है, इन सब बातोंको सोचकर हमको ज्ञानी बनना चाहिये और स्वार्थका त्याग करके उस त्यागका भी त्याग करना चाहिये, पूर्ण निष्काम बनना चाहिये। सभी साधनोंमें निष्काम-भावकी आवश्यकता है। सभी साधनोंमें समताकी आवश्यकता है और सभी साधनोंमें ममता और अहंकारके त्यागकी आवश्यकता है, सभी साधनोंमें आसक्ति और कामनाके त्यागकी आवश्यकता है।

निष्काम भावका प्रभाव तथा रहस्य

कंचन तजना सहज है सहज तियाका नेह।
मान बड़ाई ईर्ष्या दुर्लभ तजना एह॥

—यह दोहा बड़ा अच्छा है—इसका अर्थ यह है कि कंचनका त्याग करना, रुपयोंके लोभका त्याग करना और स्त्रीविषयक सुखका त्याग करना कोई कठिन नहीं है, सहज है, पर मान-बड़ाई और ईर्ष्याका त्याग करना बड़ा ही कठिन है। इसका अभिप्राय यह है कि कंचन और कामिनीका त्याग करना कोई मामूली बात नहीं है, किन्तु अपेक्षाकृत मान, बड़ाई और ईर्ष्याका जो त्याग है वह इससे भी कठिन है। क्योंकि वर्तमानमें तो मान-बड़ाईके प्रवाहमें, जो अच्छे-अच्छे समझे जाते हैं वे भी बह जाते हैं। चाहते हैं कि संसारमें मेरी प्रतिष्ठा हो, इज्जत हो, मेरी कीर्ति हो, मेरा नाम हो और मेरी पूजा हो। संसारमें दूसरोंकी अधिक पूजा हो, यह उन्हें बर्दाश्त नहीं होता, इसलिये इसका त्याग करना बड़ा ही कठिन है।

हम देखते हैं कि जो बड़े-बड़े नेता हैं, साधु हैं या संसारमें बड़े भक्त बने हुए हैं, ज्ञानी बने हुए हैं, अपनेको महात्मा प्रसिद्ध करनेवाले हैं, संसारमें और लोग भी उनको अच्छा मानते हैं ऐसे पुरुषोंमें भी मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और ईर्ष्या—ये दोष देखे जाते हैं। वास्तवमें इन दोषोंसे रहित तो वे ही हैं जो भगवत्प्राप्त पुरुष हैं। उनके सिवाय सभीमें कुछ-न-कुछ दोष अन्ततक रहता ही है। बात यह है कि इस जमानेमें गृहस्थी होकर यदि पर-स्त्रीका त्याग, पर-धनका त्याग करनेवाला आदमी मिल जाय तो उसे अच्छा आदमी समझना चाहिये। महात्मा तो नहीं, पर अच्छी श्रेणीमें समझना चाहिये। साधुओं

और संन्यासियोंमें स्वरूपसे ही कंचन और कामिनीका त्याग हो तो अपेक्षाकृत उसे अच्छा आदमी समझना चाहिये, ज्ञानी-महात्मा तो नहीं। इतने-मात्रसे ज्ञानी-महात्मा नहीं समझे जा सकते; क्योंकि इनसे कठिन त्याग है—मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाका त्याग। मानकी अपेक्षा बड़ाईका त्याग कठिन है, ईर्ष्याके लिये मान, बड़ाई दोनोंका त्याग कर देता है अर्थात् अमर्षका त्याग करना कठिन है। इसलिये भगवान्‌ने अपने भक्तोंके लक्षणोंमें भी अमर्षके त्यागको असली भगवत्प्राप्ति बतलाया है—

हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ (१२। १५)

जो हर्षसे, अर्मषसे, भयसे और उद्वेगसे रहित है—जिनमें इन चारोंका अभाव है वह मेरा भक्त मुझको प्यारा है। तात्पर्य यह कि सांसारिक वस्तुमें—किसी चीजमें हर्ष न हो, किसी दूसरेसे ईर्ष्या न हो, किसीका भय न हो, किसी प्रकारसे चित्तमें उद्वेग न हो यह बात दिखलायी। इस समय संसारमें लोग मान-बड़ाईके वास्ते, अपने शरीरकी पूजाके वास्ते, फोटो पुजानेके वास्ते, अपनी जीवनीका प्रचार करनेके वास्ते कार्य करते हैं। यहाँतक कि दंभ और पाखण्डका भी अंश उनमें आ जाता है, जो गये-बीते हैं वे तो गये बीते हैं ही, पर अपनी दृष्टिसे जिन्हें लोग अच्छा मानते हैं, उनका भी पिण्ड मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा नहीं छोड़ती। परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद तो फिर बात ही क्या है। जो आदमी यह कहता है कि मुझे परमात्माकी प्राप्ति हो गयी, मैं भगवान्‌से एकान्तमें बातचीत करता हूँ, मैं गुणातीत महात्मा हूँ, मैं एक योगी हूँ, इस प्रकारकी जो ख्याति करता है वह तो दम्भी पाखण्डी है ही। और दूसरे जो लोग उनको इस प्रकार कहते हैं उसे वह स्वीकार कर लेता है उसमें भी दम्भका ही भाव है,

वह भी दम्भी ही है। जैसे मैं किसीकी बड़ाई करूँ कि वे ज्ञानी महात्मा हैं और वे बैठे हैं और इसका वे प्रतीकार न करें तो एक प्रकारसे वह स्वीकृति है। उसे भी मैं, दम्भी-पाखण्डी तो नहीं, किन्तु दोष ही मानता हूँ, उनको परमात्माकी प्राप्ति नहीं मानी जा सकती। हर एकमें यह बात घटानी चाहिये। समझना चाहिये कि परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद जो लक्षण घटते हैं, वे तो बहुत उच्चकोटिके लक्षण होते हैं। मनुष्य जब आरम्भमें परमात्माकी ओर इस संसारसे उपराम हो करके जाता है तब ये ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ उसे आ करके घेर लेती हैं। ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ यदि विघ्न नहीं डालें तो देवता लोग उसमें उत्पात करते हैं। इन सभी बातोंको सोच करके अपनी आत्माका कल्याण चाहनेवालेको यदि उपसिद्धिकी झलक आ जाय तो उसी वक्त उनका त्याग कर देना चाहिये।

महर्षि पतंजलिने अपने योगदर्शनके विभूतिपादमें साफ कहा है कि सिद्धियाँ परमार्थके विषयमें विघ्न हैं। और दूसरी बात यह है कि देवता लोग भी साधकको मान-सत्कार देकर डुबो देते हैं। जितने सकाम अनुष्ठान हैं सभी साधकके लिये हानिकर हैं। ज्ञानी महात्मा इनसे सदा दूर रहते हैं।

बहुत-से हमारे भाई-बहन उपर्युक्त तत्त्वको नहीं समझते तथा विषयोंमें आसक्तिके कारण और फलकी इच्छाके कारण संसारकी तरफ चले ही जाते हैं। जिन्हें हमलोग समझदार कहते हैं वे भी डूब जाते हैं। मैं सबपर निष्कामके ऊपर खूब जोर लगाता हूँ। कोई बीमार हो, रोगी हो और उसके लिये मेरा कोई प्रेमी मुझसे कहे कि आप कह दें कि इसे आराम हो जाय तो इसे आराम हो सकता है। आप दवाई बतला दें वह दवाई दे दें तो इसे आराम हो जाय। यह

सकाम भाव है। यह सकाम भाव यदि मेरे साथ कोई आदमी जोड़ दे तो यह समझना चाहिये कि परमार्थके तत्त्वके विषयमें वह कुछ भी नहीं समझा। हमारे घरमें किसीके बीमार हो जानेपर उसकी नाड़ी देखनी, उसे पथ्य आदि बतलाना—ये सब कुटुम्बके नाते काम पड़ता है और ऐसा ही अपने मित्र भाइयोंके साथ भी काम पड़ता है किन्तु घरवालोंमें तो श्रद्धाकी भी कमी है। वास्तवमें इस बातको वे बुरा भी समझते हैं, दोनों ही कारणसे उनमें इस दोषके घटनेकी गुंजाइश कम है, किन्तु जो अपनी श्रद्धा मानते हैं वह उसमें सकाम भाव जोड़ लें तो ऐसे श्रद्धालुकी अपेक्षा जिनकी श्रद्धा नहीं है उनकी मैं प्रशंसा करता हूँ। इस न्यायसे प्रशंसा करता हूँ कि श्रद्धाको अपनी आरोग्यताके लिये शामिल कर ले तो वह बहुत नीचे दर्जेका है। यह बात प्रत्येक माता-बहिनों, भाइयोंके लिये मैं कहता हूँ। आजकल तो ऐसे-ऐसे मूर्ख पुरुष-स्त्रियाँ हैं—किसीने उनको आशीर्वाद दे दिया कि तेरे लड़का हो जायगा, लड़की हो जायगी और उसकी तुक पी गयी तो वे कहते हैं यह महात्मा पुरुष है, अरे यह महात्माका लक्षण ही नहीं है।

महात्माओंके ये लक्षण गीतामें, भागवतमें, महाभारतमें कहीं नहीं आते, इन लक्षणोंकी बात गीतामें भी यदि देखी जाय तो गुणातीतके लक्षणोंमें, भक्तिमान् पुरुषोंके लक्षणोंमें कहीं यह बात नहीं आती, बल्कि ये कलंक हैं। इसलिये प्रत्येक माता-बहिनको इस बातपर ध्यान रखना चाहिये कि किसीने अपनेको आशीर्वाद दे दिया या वरदान दे दिया कि तुम्हारे लाख रुपया हो जायगा, दरिद्रता दूर हो जायगी तो वह महात्मा नहीं बल्कि वह तो बाबाजीकी झोलीमें जेवड़ा है—बन्धन है। उससे अपनेको सावधान ही रहना चाहिये और जो अज्ञानी संसारके

विषय-भोगोंमें फँसे हुए है जैसे बाबाजी, वैसे ही उसके भक्त, वहाँ तो दोनों तरफ ही अंधेरखाता है। हरेक भाई-बहिनको इस विषयमें खूब सावधान रहना चाहिये। यदि परमात्माकी प्राप्तिके विषयमें सकाम भाव भी आ जाय तो वह सकाम भाव यद्यपि कुछ नीची श्रेणीका ही है तो भी उसमें दोष नहीं है, क्योंकि वह सकाम भाव भी निष्कामके तुल्य है। यद्यपि वह निष्काम तो नहीं है, उसमें कमी तो जरूर है, किन्तु वह निष्कामके समान ही है। जैसे कोई आदमी किसी महात्मा या किसी साधु अथवा अच्छे पुरुषसे कहे कि आप भगवान्‌में मेरा ध्यान लगा दीजिये, या भगवान्‌की मुझे प्राप्ति करा दीजिये अथवा भगवान्‌में मेरा प्रेम हो, भगवान्‌में मेरी परम श्रद्धा हो, इसके लिये आप आशीर्वाद दीजिये या आप कह दें कि तेरी इच्छा पूरी हो जायगी तो ऐसी कामना करनेमें कोई दोषकी बात नहीं है। यह कामना तो है, याचना तो है, किन्तु है भगवान्‌के लिये ही। भगवान्‌के लिये जो याचना है वह दोषी नहीं, वह मुक्तिमें बाधक नहीं, परमात्माकी प्राप्तिमें बाधक नहीं, बल्कि सहायक ही है। महात्मा होनेके बाद तो यह इच्छा उसमें रह ही नहीं सकती। इस प्रकारकी इच्छा रहनी कोई दोषकी बात नहीं है। किन्तु इसके सिवाय किसी भी प्रकारकी इच्छासे यदि महात्माके साथ सम्बन्ध जोड़े और महात्मा उसे स्वीकार कर ले तो वह महात्मा महात्मा नहीं है और सम्बन्ध जोड़नेवाला तो गिरा हुआ है ही, उसको महात्मा भी मानता है और उनसे अपनी आरोग्यताकी इच्छा करता है, पुत्रकी इच्छा करता है, धनकी इच्छा करता है, किसी भी संसारके पदार्थकी इच्छा करता है तो मूर्खताकी हद है, निष्काम भावमें कलंक है। निष्कामका दर्जा इतना

ऊँचा है कि भगवान्‌के ध्यानसे भी बढ़कर है।

एक मनुष्य तो सकामभावसे भगवान्‌का ध्यान करे और दूसरा निष्कामभावसे लोकोपकारक कर्म, यज्ञ, दान, तप आदि अच्छे कर्म करे, कर्मके फलको नहीं चाह करके कर्म करनेवाला पुरुष ध्यान करनेवालेसे भी श्रेष्ठ है। भगवान्‌ने गीताके १२वें अध्यायके १२वें श्लोकमें यह बात बतायी है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

ध्यानसे भी कर्मफलका त्याग—फलकी इच्छाका त्याग, फल न चाहते हुए कर्मको करनेवाला पुरुष श्रेष्ठ है। क्योंकि त्यागसे तत्काल शान्ति मिलती है—"**त्यागात् शान्तिरनन्तरम्।**" त्याग नहीं तो फिर चाहे वह ध्यान ही करता रहे। यह नीचे दर्जेका है। किससे? त्यागसे, निष्काम कर्मसे। भगवान्‌ने यहाँतक कहा है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

(६। १)

जो कर्मके फलको नहीं चाहते और कर्त्तव्य कर्मका पालन करते हैं ऐसे पुरुष ही संन्यासी हैं। मतलब यह कि सांख्ययोगी और कर्मयोगी हैं। जिनमें यह बात है वह सब कुछ हैं। अब आप खयाल करें कि निष्कामका दर्जा कितना ऊँचा है। आप इसपर विचार करके देखें।

कल गोरखपुरमें मारवाड़ी-विद्यालयकी मीटिंगमें एक सज्जनने मुझसे बहुत प्रेमसे, सरलता तथा भावुकतासे यह बात कही कि आपकी तो नजरसे ही लाखों रुपये आ सकते हैं। यदि आपका कलकत्ता जाना हो तो वहाँ बहुत-से धनी लोग

हैं, इस विद्यालयके लिये उनसे संकेत कर दें—प्रेरणा कर दें तो वहाँ विद्यालयके लिये लाखों रुपये मिल सकते हैं। मैं एक मिनट चुप हो गया और विनयसे कहा कि रुपये-पैसेके वास्ते किसी व्यक्तिसे कहनेका मेरा काम नहीं पड़ता, इसके लिये मैं लाचार हूँ। आप जानते नहीं हैं। दूसरे आदमी जो जाननेवाले हैं उनसे आप पूछ सकते हैं। मेरा ऐसा स्वभाव नहीं है। मेरी यह नीति नहीं है। आप लोगोंसे समूहके बीच यह कह सकता हूँ कि विद्यालयके पास धनका अभाव है, इसलिये सभी भाइयोंको इसके लिये प्रयत्न करना चाहिये जिससे विद्यालयका काम चले और मैं यह बात हृदयसे आप सबसे कहता हूँ कि सब भाई इसके लिये यत्न करें, चेष्टा करें, तो मैं इसे अच्छी बात समझता हूँ। क्योंकि जो आदमी सदा ही माँगते हैं, उनके लिये तो कोई दोषकी बात नहीं है। परन्तु मैं यह समझता हूँ कि अपने लिये माँगना तो बहुत ही नीचे दर्जेकी चीज है। दूसरेके लिये माँगना इतनी नीचे दर्जेकी चीज नहीं है। कबीरदासजी कहते हैं—

मर जाऊँ माँगू नहीं अपने तनके काज।
परमारथके काजमें मोहि न आवे लाज॥

अपने व्यक्तिगत शरीरके सुख और आरामके लिये, अपने स्वार्थके लिये, मैं नहीं माँगता चाहे मेरी मृत्यु हो जाय। किन्तु परमार्थके लिये या दूसरेके कल्याणके लिये या दूसरेके उद्धारके लिये यदि मैं माँग पेश करूँ तो उसमें मुझे लाज नहीं आती। मुझे शरम नहीं आती। इससे यह बात सिद्ध होती है कि न माँगना तो और भी उत्तम है। इसलिये अपनेको उत्तम-से-उत्तम लक्ष्य रखना चाहिये। उत्तम-से-उत्तम लक्ष्य रखोगे तो परमार्थके लिये माँगनेमें लाज नहीं आवेगी, इस श्रेणीमें कहीं आप आ

जाओगे और पहले ही कहीं उसी श्रेणीको पकड़ें कि मैं दूसरोंके वास्ते तो माँगूँ पर अपने लिये नहीं माँगूँ, तो आगे जाकर नीचे उतर जाओगे और अपने लिये भी माँगना शुरू कर दोगे तो उत्तम-से-उत्तम रखना लक्ष्य अच्छा है। यदि कोई भी साधु, संत, भक्त, योगी बनकर किसीको भी सकाम भाव बतलानेके लिये प्रवृत्त हो जाय तो यह अनुपयुक्त है, परन्तु यदि वह सकाम भावसे रोगीको दवा आयुर्वेदिक बताये या दे तो उसके लिये कोई आपत्ति नहीं है।

मैं डॉक्टरोंकी दवाईके पक्षमें तो बिलकुल नहीं हूँ, होमियोपैथ, एलोपैथ कोई भी दवा हो उसकी ओषधि लेनेमें मेरी बिलकुल राय नहीं है। यदि घरमें कोई बीमार हो जाय और कहे कि डॉक्टरको बुला दो तो उसकी इच्छाके कारण, आग्रहके कारण बुलाना तो पड़ता है, किन्तु भीतरकी इच्छा नहीं रहती। लगानेके लिये तो मनाही नहीं है किन्तु खानेके लिये कोई डॉक्टरकी दवाई इसको दी जाय, सूई दी जाय मेरी राय नही है। इसी प्रकारसे आप सब भाइयोंकी सम्मति हो जाय तो अपने आयुर्वेदका प्रचार हो सकता है और डॉक्टरी विभाग कमजोर पड़ सकता है। इसकी बड़ी आवश्यकता है, किन्तु दुःखकी बात है कि इस समय आयुर्वेदके काम करनेवाले जो वैद्य हैं वे भी डॉक्टरी दवाई काममें लेने लग गये हैं। और अपनी देशी औषधियोंमें मिश्रण करने लग गये हैं। इससे उसमें संकरता आ जाती है। संकरता बड़ा भारी दोष है। संकरता क्या? आयुर्वेदकी औषधमें अंग्रेजी औषध मिलाना संकरता है। मिलनेका नाम ही संकरता है चाहे कोई हो, जैसे—वर्णसंकर, आश्रमसंकर, जातिसंकर—ये सभी संकरदोष माने जाते हैं। मिलनेका नाम ही संकरदोष है, जैसे पुरुष ब्राह्मण

हो और स्त्री वैश्यके घरकी हो तो ब्राह्मणवर्ण और वैश्यवर्णसे पैदा हुएका नाम वर्णसंकर है। ऐसे ही संन्यासी और गृहस्थीसे पैदा हुआ आश्रमसंकर है। इस प्रकार विदेशी दवाई और देशी दवाईके मिलानेमें संकरताका दोष आ जाता है। इसके विषयमें अर्जुनने गीतामें स्पष्ट बताया है कि वर्णसंकरसे जातिधर्म, कुलधर्म—ये सभी नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकारसे आयुर्वेदकी ओषधिमें संकरताका दोष हो जाना आयुर्वेदके लिये घातक है। इससे आयुर्वेद विनाशको प्राप्त होता चला जाता है। भगवान् कहते हैं कि यदि मैं शास्त्रके अनुकूल कर्म न करूँ तो इस संसारको भ्रष्ट करनेवाला, नष्ट करनेवाला, वर्णसंकरता पैदा करनेवाला बनूँ। यह बड़ा भारी दोष माना है, इस बातको ध्यानमें रखना चाहिये। डॉक्टरी दवामें आयुर्वेदकी दवा मिलाकर देनेवाला धोखा देता है। जैसे किसीको बुखार हो गया और कुनैनका व्यवहार करनेसे बुखार जल्दी उतर जायगा। किन्तु वह कुनैन नहीं लेता इसलिये कुनैनको पीस करके देशी औषधियोंमें मिला करके उनको कुनैन दिया जाय तो कुनैन देनेवाला कपट करता है, धोखा देता है। यह धोखा देनेकी बात आजकल कहीं-कहीं चल पड़ी है, इस वास्ते देशी औषध भी विचार करके ही लेना चाहिये।

असली बात तो यह है कि बीमारीका होना, मिटना प्रारब्धपर निर्भर करता है, किन्तु मनमें धैर्य नहीं हो तो औषधका व्यवहार करना चाहिये, किन्तु करना चाहिये सात्त्विक औषधका।

अपना मूल प्रकरण था असली निष्काम और उसमें सकामका मिश्रण। वहाँ भी संकरताका जो दोष है वह बहुत नीचे दर्जेकी चीज है। ईश्वरकी भक्तिमें भी यदि संकरताका दोष

मिल जाय तो विलम्ब होता है। इसलिये भगवान् कहते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

(१४। २६)

मुझ परमात्मामें अव्यभिचारिणी भक्तियोगसे जो सेवन करते हैं वे तीनों गुणोंसे अतीत होकर ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये समर्थ हो जाते हैं।

जिसकी भक्तिमें व्यभिचार-दोष न घटे। भक्तिमें व्यभिचार-दोष कैसे माना जाय? भगवान्‌की भी भक्ति करे और साथ-साथ विषयोंमें भी प्रेम करे या इनके साथ-साथ अन्य देवतामें भी इष्ट भाव है तो यह व्यभिचार-दोष है। देवताओंकी उपासना करनी और उनकी पूजा करनी यह तो अपना कर्तव्य है, यह दोष नहीं है। इसके लिये तो स्वयं भगवान् गीतामें कहते हैं। यह तो विधि बतलायी है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

(१७। १४)

देवता, ब्राह्मण और गुरुजन जो अपनेसे बड़े हैं, अवस्थामें बड़े हैं, माता-पिता, आचार्य भी पदमें बड़े हैं, ज्ञानमें बड़े हैं, कर्ममें बड़े हैं या किसी भी प्रकारसे अपनेसे बड़े हैं और जो ज्ञानी महात्मा पुरुष हैं—इनकी पूजा, सेवा-सत्कार, आदर करना—ये सब पूजाके अन्तर्गत हैं।

शरीरकी पवित्रता है—शौचाचार, सदाचार और आर्जव यानी सरलता तथा ब्रह्मचर्यका पालन एवं अहिंसा-धर्मका पालन, इसे शारीरिक तप कहते हैं। ये शरीरके द्वारा पालन करनेयोग्य धर्म हैं। इस धर्मका पालन करनेसे सबकी पूजा हो जाती है। किन्तु इसका मतलब यह है कि चाहे निष्काम भावसे पूजा की जाय

या निष्काम भावसे तप किया जाय दोनों मुक्ति देनेवाले हैं। सकाम भावसे यदि किये जायँ तो ये मुक्तिको देनेवाले नहीं होते, क्योंकि इसमें व्यभिचार-दोष आ गया। अतः ईश्वरसे, देवताओंसे, महात्माओंसे—किसीसे भी किसी भी बातकी कामना नहीं करनी चाहिये और यदि परमार्थ-विषयकी कामना की जाय तो दोष नहीं। परमात्माके मिलनेके विषयमें, भगवान्‌में मेरा प्रेम हो, श्रद्धा हो, भगवान्‌का दर्शन हो, यह कामना चाहे भले ही की जाय, किन्तु सांसारिक पदार्थोंको लेकर जो कामना की जाती है वह तो एक प्रकारसे व्यभिचार-दोष है, अपने लिये साधनमें कलंक है, उसको परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र नहीं होती। क्योंकि उसकी बुद्धि नाना प्रकारकी कामनाओंसे छिन्न-भिन्न हो जाती है। गीता (२। ४१) में आया है—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।।

भगवान् कहते हैं कि निश्चयात्मिका बुद्धि, भगवद्विषयक बुद्धि तो एक ही होती है, उसमें नाना प्रकारका भेद नहीं होता। परमात्मामें अपने इष्टकी भी बुद्धि हो और साथमें दूसरेमें भी इष्टकी बुद्धि हो यह व्यभिचार-दोष है। जैसे पतिव्रता स्त्री दूसरे पुरुषसे भी प्रेम करे तो वह व्यभिचारिणी समझी जाती है। किन्तु सेवा सबकी कर सकती है, जो अपने घरपर आये हुए अतिथियोंकी, सास-ससुरकी सेवा करती है, वह अच्छी समझी जाती है। उसका पति भी खुद कहता है कि मेरी माँकी सेवा करनी चाहिये, मेरे पिताकी सेवा करनी चाहिये, मेरे बड़े भाईकी, मेरी भौजाईकी सेवा करनी चाहिये। अपने घरपर कोई अतिथि आ जाय तो उसे प्रेमसे भोजन कराना चाहिये, भेद-भाव नहीं करना चाहिये, भोजन समभावसे कराना

चाहिये। यदि अपने घरपर श्राद्ध हो और उस समय किसी ब्राह्मणको भोजन कराना हो या कोई बाहरसे पाहुना आ जाय तो उनकी दिलचस्पीसे सेवा करनी चाहिये। यह नहीं कि उनके साथ व्यभिचार करे, उसके साथ खराब भाव है वह व्यभिचार-दोष है। भोजन करानेमें, सेवा करनेमें, यह दोष नहीं है। यह तो गुण है, यह तो करना ही चाहिये।

व्यक्तिगत स्वाद लेना ही व्यभिचार-दोष है। संसारके विषय-भोगोंमें भोगनेके समय स्वाद लेना भगवान्‌की भक्तिमें कलंक है। इसी प्रकारसे जो भी सांसारिक सुख है वह भक्तिमें कलंक है। भगवान् कहते हैं—अव्यभिचारिणी भक्तियोगके द्वारा जो मेरी उपासना करता है वह इन गुणोंसे पार हो करके ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये पात्र बन जाता है—"**मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते**" भगवान्‌के इस कथनपर ध्यान देना चाहिये। ऐसे ही हर एक चीजमें, हर एक इन्द्रियके विषयमें यह बात समझनी चाहिये। मान लो यहाँ बगीचा है और उसमेंसे पुष्पोंकी सुगन्ध आती है और एक तरफसे पैखानेकी दुर्गन्ध आती है दोनों ही चीजें आती हैं, किन्तु हम पुष्पको तोड़ करके उसमें सुगन्धका रस लें यह नीचे दर्जेकी चीज है। इसी प्रकारसे हम भोजन करते हैं उसमें जो खारा लगता है, जैसे करेला खारा लगेगा और शकरकंदीका जो शाक है वह मीठा लगेगा। किसी चीजमें चीनी दी हुई होगी वह मीठी लगेगी। वह खारा, मीठा, खटरस-ज्ञान जिह्वाको होगा ही, नहीं तो व्यवहार कैसे होगा। किन्तु स्वादकी दृष्टिसे भोजन करें और कहें बहुत ही स्वादिष्ट चीज है भले ही शरीरके लिये हानिकर ही हो। यह विशेष रसके उद्देश्यसे उसका भोग करना है यह खराब है। केवल शरीरके निर्वाहकी दृष्टिसे कर्म करनेवालेको पाप

नहीं लगता जैसे कपड़ा है। शीतकालमें कम्बलसे भी शीतकी निवृत्ति हो सकती है और दुशालेसे भी निवृत्ति हो सकती है। शौकसे दुशाला ओढ़ना यह रस लेना है। अपने तो शीत निवृत्त करना है तो चाहे दुशाला हो चाहे कम्बल, चाहे टाट, पर जो जिस वर्णाश्रममें हो वह उसके अनुसार हो, दूसरोंके लिये बाधक न हो, ऐसा होना चाहिये—

शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।

(४। २१)

फिर अपने उस निष्काम कर्मयोगके प्रकरणपर आ जाता हूँ। बहुत-से भाई मुझसे अपने संकट-निवारणके लिये या पुत्रकी प्राप्तिके लिये, धनकी प्राप्तिके लिये, आरोग्यकी प्राप्ति आदिके लिये उपाय पूछते हैं, अनुष्ठान पूछते हैं, पर मैं इनमें पारमार्थिक विषयका, दैविक विषयका, आध्यात्मिक विषयका सम्बन्ध नहीं जोड़ता हूँ। सांसारिक औषधि-दवाई, खाना-पीना बीमारको बतला दी जाती है और रुपयोंके विषयमें जैसे कोई व्यापार है; और वह व्यापार यदि समझमें आ जाय उसके लिये सलाह दे दी जाती है। किन्तु अमुक अनुष्ठान कर लो, अमुक देवताकी पूजा कर लो, भगवान्‌से माँगो यह प्रायः कहनेका अभ्यास नहीं है।

बहुत-से आदमी पत्रोंद्वारा किसी सकाम भावके अनुष्ठानके विषयमें पूछते हैं। उनको प्रायः यही उत्तर दिया जाता है कि मुझे अभ्यास नहीं है और इसका मुझे अनुभव नहीं है। इसलिये इनके जो जानकार हैं, विद्वान् हैं, पण्डित हैं, उनसे आपको पूछना चाहिये। इस विषयमें यह खयाल करना चाहिये कि उनको एक प्रकारसे चेतावनी दी जाती है, किन्तु वह न समझे तो उसके लिये क्या उपाय करूँ। हमारे सत्संगी भाइयोंमें,

पुरुषोंमें, स्त्रियोंमें यह अज्ञान अभी भी है। मैं समझता हूँ कि यदि सबमें निष्काम भाव होता तो इतना समय लगनेका कोई कारण नहीं है। हमारी समझमें कोई युक्ति नहीं आती है, शास्त्रमें यह बात कहीं नहीं आती है। भगवान् गीता (२। ४०)-में बड़े तेजीके साथ कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

निष्काम कर्म, निष्काम धर्म, स्वार्थ-त्यागपूर्वक क्रियाका करना है इसके आरम्भका नाश नहीं होता। थोड़ा भी जो आरम्भ होता है वह जड़ जमा करके रहता है। क्योंकि योग—जो निष्काम कर्मयोग है वह नित्य है और सत् है, इसलिये सत्का नाश होता नहीं। सकाम कार्य फल दे करके समाप्त हो जाता है। कर्मफलकी इच्छा न करना, किसी भी प्रकारके कर्मका फल न चाहना, निष्काम कर्म है। निष्काम-कर्मयोगकी इतनी महिमा भगवान्ने खुद गीताके उपर्युक्त श्लोकमें बतायी है कि यह निष्काम-कर्म शुरू होकर जब जड़ जमा लेता है तब इसका नाश होता ही नहीं। उसमें प्रत्यवाय दोष नहीं लगता— "प्रत्यवाय" का मतलब है कर्तव्यकर्मका पालन न करनेका दोष। माता-पिताकी सेवा करना कर्तव्य है और कोई यदि न करे तो वह प्रत्यवायका भागी होता है। यज्ञोपवीत ले करके फिर संध्या न करे, गायत्री न जपे, वेद न पढ़े तो उसे प्रत्यवायका दोष लगता है, क्योंकि उसने कर्तव्यका पालन नहीं किया। यज्ञोपवीत लिया है इसीलिये कि वह संध्या करे, गायत्री जपे, वेद पढ़े। यह उसका कर्तव्य है। यदि वह न करे तो यह प्रमाद है और प्रत्यवाय-दोष है। इसी प्रकारसे प्रत्यवाय यह भी है हम देवोंकी पूजा विधिपूर्वक सकाम भावसे

कर रहे हैं—उसमें देवीको लाल फूल चढ़ानेके बदले सफेद फूल चढ़ा दिया तो उससे विधिके विषयमें प्रत्यवाय दोष आ गया, इससे देवी अप्रसन्न होकर उसका अनिष्ट भी कर देती हैं। इसलिये कि पूजा करनेमें सफेद फूल चढ़ाना वे अपना अपमान समझती हैं। किन्तु निष्काम कर्ममें कोई ऐसी भूल घट जाय तो वह दोषका भागी नहीं होता। इसलिये "प्रत्यवाय" दोष नहीं लगता। सकाम कर्म किसी कामनाको लेकर होता है। विधि न होनेसे उस कामनाकी सिद्धि होनेमें संदेह रहता है, किन्तु निष्काम भावसे कर्म करनेमें कोई कामना नहीं होती, अत: निष्काम कर्म ही अच्छा है। निष्काम कर्म करनेमें विधिकी कोई बाध्यता नहीं है। निष्काम कर्मकी यह विशेषता है कि यदि निष्काम कर्म करनेमें कोई कमी रह जाय, गुणोंकी कमी रह जाय या किसी विधिकी कमी रह जाय, कर्तव्यकी कमी रह जाय तो वह पापका भागी नहीं होता। इसका कितना भारी महत्त्व है। इस विषयमें एक-से-एक बढ़कर बात बतलाते चले गये, जिसमें तीन बात बतलायी—एक तो यह कि उसका नाश नहीं होता—"**नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति**"। जो कर लिया वह बना रहता है, फिर दूसरे काममें लग जाता है, तो निष्काम जितना कर लिया वह कायम ही रहता है। उसका नाश नहीं होता। और इससे बढ़कर यह बात दिखलायी कि यदि उसकी क्रियामें कहीं यत्किंचित् आनुषंगिक दोष आ जाय तो वह पापका भागी नहीं होता। जैसे मैं निष्कामभावसे यदि किसी आदमीकी सेवा करता हूँ और उसमें मुझसे कुछ गलती हो गयी और मैं उसका पश्चात्ताप करूँ कि मुझसे यह गलती हो गयी तो वह खुद कहता है इसमें आपका कोई दोष नहीं है। यह

गलती भूलसे हो गयी है, इसका आप पश्चात्ताप न करें। मुझे वह आश्वासन ही देता है। वह समझता है कि इसका इसमें स्वार्थ है ही नहीं, भलेके लिये करता था, भला करते-करते इसमें थोड़ी गड़बड़ हो गयी इसमें इसका कोई अपराध नहीं है। मान लीजिये आप अन्धकारमें बैठे हैं और आपके घरकी लालटेन लेकर मैं जला रहा हूँ, मुझसे वह शीशा फूट गया और मैं पश्चात्ताप करने लगा कि देखो मुझसे यह नुकसान हो गया। तो आप कहते हैं कि इसमें आपका कोई दोष नहीं है, यह तो भूलसे ऐसा हो गया, दूसरी लालटेन जला लो, क्या बात पड़ी है, आप इसके वास्ते कोई पश्चात्ताप न करें। क्योंकि आप समझते हैं कि आप सब अंधकारमें बैठे हैं मैं तो आपके लिये रोशनी कर रहा था गलतीसे गिरकर फूट गया, इसमें हमारी कोई बुरी नीयत नहीं थी। इसी प्रकारसे भगवान् समझते हैं कि इसकी बुरी नीयत नहीं है, इसलिये भगवान् कहते हैं—

न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥

(६। ४०)

कल्याणके लिये कर्म करनेवालेकी कभी दुर्गति होती ही नहीं। दूसरेके निष्कामभावसे हित करनेवालेसे कोई आनुषंगिक बात घट भी जाय तो उसे दोष नहीं लगता, वह अपराधी नहीं माना जा सकता। और इससे भी बढ़कर एक बात यह दिखलायी कि उसका थोड़ा भी जो पालन है वह महान् भयसे तार देता है। महान् भय क्या? जन्म-मरणका भय—संसारमें चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करनेका भय। इसपर और विशेष ध्यान देना चाहिये कि इस धर्मका थोड़ा भी अनुष्ठान महान् भयसे तार देता है—"**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो**

भयात्''। हमलोगोंको अब यह विचार करना चाहिये कि वर्षों-के-वर्ष हो गये, यदि हमारेमें किसी प्रकारका दोष नहीं होता, सकाम भाव कहीं नहीं होता तो हमारे कल्याणमें विलम्ब क्यों होता? माताओं, बहनों एवं भाइयोंको इस बातको सुन करके अपने हृदयमें यदि कहीं भी कामना हो, छिपी हुई कामना हो तो उसका भी त्याग कर देना चाहिये—उसको भी हृदयसे हटा देना चाहिये। प्रह्लादजीसे भगवान् जब बार-बार कहने लगे कि प्रह्लाद! तू मुझसे कुछ वरदान माँग, मुझसे कुछ वरदान माँग। तो प्रह्लादजीने यही कहा—भगवन्! मुझे तो कोई कामना है ही नहीं। क्या माँगूँ? फिर भगवान्ने कहा—यद्यपि तेरेमें कामना नहीं भी हो तो भी हमारे संतोषके लिये माँग। प्रह्लादने सोचा कि भगवान् बार-बार कहते हैं और हमारी दृष्टिमें तो कोई कामना दिखायी नहीं देती, परन्तु मालूम होता है कि कहीं कामना छिपी हुई है तभी तो भगवान् कहते हैं, नहीं तो भगवान् क्यों कहते। उन्होंने कहा कि प्रभो! मेरे भीतर यदि कोई कामना हो तो आप उसका सर्वथा विनाश कर दें। मुझे निष्कामी बना दें। प्रह्लादका यह कितने ऊँचे दर्जेका निष्काम भाव है।

यदि हमलोगोंको अपनेमें कामना नहीं भी दीखती हो और कोई अच्छा पुरुष कहे कि तुम्हारे हृदयमें कोई कामना होगी तो हमें उसकी खोज करनी चाहिये, इसपर विचार करना चाहिये। आपको एक बात और भी बतलायी जाती है—आपको यह विचार करना चाहिये कि जब हमारे हृदयमें किसी प्रकारकी कोई कामना है ही नहीं तो क्या भगवान्के घर अंधेर है जो अभीतक भगवान्की प्राप्ति नहीं हुई, भगवान्की प्राप्ति न होनेमें क्या कारण है। बात यह है कि भगवान् सकाम

भक्तिसे भी मिलते हैं, किन्तु विलम्ब होता है। परन्तु जब भक्ति निष्काम हो जाती है तो भगवान् बहुत जल्दी मिलते हैं। जब निष्काम कर्मसे ही भगवान् मिल जाते हैं तो निष्काम भक्तिसे भगवान् मिल जायँ उसमें कहना ही क्या? हमारी जो उपासना है भक्ति और क्रिया है—परोपकार आदि कर्म यानी जो कुछ भी हम परोपकार करते हैं—दान देते हैं, यज्ञ करते हैं, तप करते हैं उसमें थोड़ा भी कर्म यदि निष्काम हो तो हमारा कल्याण हो जाना चाहिये। अब एक बात और आ गयी विचारनेकी—भावकी अल्पता या कर्मकी अल्पता भाव यदि थोड़ा है तो उसे पूर्ण करना चाहिये, क्योंकि वह पूर्ण हो करके ही उद्धार करेगा। भाव तो पूर्ण होना ही चाहिये। भाव एकदम निष्काम होना चाहिये, उसके बादमें की गयी थोड़ी भी क्रिया उद्धार करनेवाली हो जाती है। एक मामूली क्रिया कल्याण करनेवाली हो जाती है भाव तो पूर्ण होना ही चाहिये। भावके कमीकी कोई प्रशंसा नहीं करता। वह तो व्यभिचार-दोष है। भाव हमारा पूर्ण होना चाहिये। निष्काम भावमें कमी नहीं करनी चाहिये। निष्काम भावसे हम क्रिया करें तो थोड़ी भी क्रियासे हमारा कल्याण हो सकता है। यदि आप यह सोचें कि एक कर्म तो निष्काम भावसे करें और दूसरा कर्म करें सकाम भावसे तो उस किये गये कर्मका फल तो देखनेमें मिलेगा और निष्काम भावसे किये गये कर्मका फल नहीं मिलेगा। ऐसी स्थितिमें वह भाव आपके हृदयमें पूँजीके रूपमें जमा रहेगा, किन्तु भगवान्‌की प्राप्ति अभी नहीं मिलेगी, क्योंकि आपमें व्यभिचार-दोष घटता है। निष्काम भाव और सकाम भाव दोनों मिले हुए हैं मिले हुए होनेके कारण विलम्ब होता है। निष्काम भाव होनेके साथ ही परमात्माकी

प्राप्ति हो जाती है, विलम्ब नहीं होता। हमको कोशिश करनी चाहिये कि हमारे किस स्थानमें सकाम भाव है विलम्ब क्यों हो रहा है अपने भीतर ढूँढना चाहिये, मानकी कामना है या बड़ाईकी कामना है या प्रतिष्ठाकी कामना है या शरीरको पुजानेकी कामना है, क्या कामना है!—यह देखना चाहिये। कंचन और कामिनीकी इच्छा तो बहुत नीचे दर्जेकी चीज है ही, मान-बड़ाई और प्रतिष्ठाकी भी इच्छाको कूकरकी विष्ठाके समान समझकर सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। इसलिये भगवान् बार-बार कहते हैं—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(२। ७१)

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्याग करके ममता और अहंकार तथा स्पृहासे रहित विचरता है वह शान्तिको प्राप्त होता है और कामकामी नहीं। सकामी कभी शान्तिको नहीं प्राप्त होता, परमात्माकी प्राप्ति होनेपर होनेवाली जो परम शान्ति है वह सकामीको मिलती ही नहीं—"**न कामकामी**" भगवान् कहते हैं कि कामनाकी इच्छावाले कामीको शान्ति नहीं मिलती। भगवान्‌की इस बातको ध्यानमें रख करके हमें निष्कामी बनना चाहिये। निष्कामी बन करके "मैं निष्कामी हूँ" यह अभिमान भी नहीं लाना चाहिये, क्योंकि यह अभिमान भी निष्काम भावके अन्दर कलंक है। हमलोग कह दिया करते हैं कि मैंने तुम्हारा यह काम किया, बतलाओ इसमें हमारा क्या स्वार्थ है। उससे पूछा जाता है कि बताओ इसमें हमारा क्या स्वार्थ है, ऐसा कहना उसको तो लज्जित करना है और अपनी बड़ाई करनी है। यह भी हमारे लिये एक प्रकारसे दोष ही

है। दोष समझकर ऐसे विचारोंका त्याग करना चाहिये। इस समय निष्काम भावके प्रचारकी बहुत जरूरत है। बहुत ज्यादा जरूरत है, मैं तो इसके लिये थोड़ी चेष्टा रखता हूँ। जब कहीं बात होती है तो दो विषयपर मेरा थोड़ा ध्यान रहता है, एक तो अपवित्र डॉक्टरी दवाईका क्योंकि इसका प्रयोग करना—खाना-पीना मैं बहुत ही खराब समझता हूँ। दूसरे किसीसे किसी भी प्रकारकी कामना करना जैसे संसारके विषयमें स्त्रीकी, पुत्रकी, धन आदिकी। यद्यपि संसारमें किसी भी प्रकारकी कामना करनी बुरी बात है, फिर भी दूसरेके उपकारके लिये, दूसरेके हितके लिये यदि कोई कामना की जाय तो इतना दोष नहीं है। किन्तु कामना करना हमारा स्वभाव नहीं है, इसलिये परमार्थके विषयमें भी मुझसे यह कामना नहीं होती, बल्कि इसके लिये विरोध ही किया जाता है। निष्काम भाव बड़े ऊँचे दर्जेकी चीज है, मैं आपको क्या बतलाऊँ। वास्तवमें मैं जितना उच्चकोटिका निष्काम भाव कहता हूँ और विचारोंके द्वारा समझता हूँ वह इससे और भी बहुत ऊँचा भाव है—मेरा तो यहाँतक विचार और विश्वास है कि यदि निष्काम कर्मयोगके द्वारा व्यवसाय करके उन रुपयोंका प्रयोग दूसरोंकी सेवामें लगाऊँ तो उनका अन्तःकरण शुद्ध हो सकता है। अभिप्राय यह है कि मैं सत्यतापूर्वक, समतापूर्वक निष्काम-भावसे व्यापार करूँ जैसा कि तुलाधार वैश्य करता था और उसका व्यवहार बहुत उच्चकोटिका था। मैं यदि ऐसा व्यवहार करूँ और उससे भी बढ़कर करूँ। यदि कहो कि उससे बढ़कर क्या होगा तो उससे बढ़कर यह होगा कि तुलाधार वैश्यका तो कल्याण हो गया और उसके घरमें रहनेवाले जो थे उनका भी कल्याण हो गया, किन्तु उसके व्यापारके अन्नमें

यह बात नहीं सुनी गयी कि दूसरेने भी उसके घर भोजन किया और उसकी आत्मा शुद्ध होकर उसका भी कल्याण हो गया। उससे ऊँचे दर्जेका व्यवहार यह है—व्यापार करनेका उद्देश्य केवल यही हो कि संसारका जिससे कल्याण हो, व्यापारके द्वारा संसारका कल्याण करना। जैसे त्रेतायुगमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने सरयूकी धारसे लोगोंका उद्धार किया और द्वापरयुगमें श्रीकृष्णजीने एरकाके घाससे यदुकुलका उद्धार किया। इसी प्रकारसे निष्काम कर्मयोगके द्वारा उपार्जन किये हुए द्रव्यसे दूसरोंका उद्धार करना। शुरूमें निष्काम कर्म यदि वास्तवमें होने लगे तो उसके दर्शनसे लोगोंमें पवित्रताकी लहर बहने लगे। केवल उसके दर्शनका असर पड़े और जिसके साथमें व्यवहार किया जाय, लेन-देन किया जाय, किसीसे चीज खरीदी जाय, किसीको बिक्री की जाय तो खरीदनेवाला और बेचनेवाला, उसके साथ सम्बन्ध करनेवाला पवित्र हो जाय और उससे उपार्जन किये हुए उस द्रव्यमें इतनी शक्ति हो जाय कि उसके घरपर आकर कोई भोजन कर ले तो उसकी आत्मा पवित्र हो करके शुद्ध हो जाय। उसके अन्नमें ऐसी शक्ति आ जाय किन्तु ऐसा व्यवहार किसीका देखा नहीं गया और मेरा भी ऐसा व्यवहार नहीं है, परन्तु यदि मेरा व्यवहार ऐसा हो तो समझो कि आत्माके कल्याणका बहुत ही सहज मार्ग निकल जाय। जैसे शिवजी महाराज काशीमें मुक्तिका सदाव्रत बाँटते हैं, इसी प्रकार हमारा घर ही काशी हो जाय। फिर मैं अपने यहाँ सदाव्रत सदा बाँटता रहूँ, यह सदाव्रत ही है—मुक्तिका सदाव्रत है। भोजन करनेवालेके कल्याणकी जो शक्ति है वह शक्ति हमारे अन्नमें नहीं है, क्योंकि हमारे घरका जो अन्न है वह आपलोगोंकी दृष्टिमें अपेक्षाकृत हो सकता है कुछ

अच्छा माना जा सके, किन्तु उसमें वह पवित्रता, वह शक्ति नहीं है कि जिसके भोजन करनेसे दूसरेका कल्याण हो सके। ऐसा घोर कलिकाल है कि इसमें उस प्रकारकी शक्ति लानी बहुत कठिन है, कोई मामूली बात नहीं है। किन्तु नीतिसे, युक्तिसे मैं इस बातको मानता हूँ कि ऐसा भी हो सकता है। कठिन तो जरूर है, क्योंकि ऐसा जमाना है कि बात-बातमें झूठ चल रहा है, व्यापार इतना गंदा हो गया है कि उसको हम चोरी कहें या डकैती कहें, झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजी, विश्वासघात उसमें सब घटते हैं, ऐसा है हमलोगोंका व्यवहार। ऐसे व्यवहारमें जैसा मैं बतलाता हूँ उसे ऐसा समझो कि जैसे लंकामें राक्षस-ही-राक्षस थे, विभीषण भी राक्षस ही था पर विभीषणका जो भाव है वह लंकामें एक अलग ही चीज थी लंकामें जैसे विभीषण था, ऐसा है यह। यह बहुत ऊँचे दर्जेकी चीज है। मैंने आपको बतलाया कि इतना नहीं तो तुलाधार वैश्यके माफिक तो होना ही चाहिये। तुलाधार वैश्यका जो व्यवहार है वह तुलाधारका तो कल्याण करनेवाला है ही औरोंका न सही, उसका तो कल्याण करनेवाला है ही। हमारा व्यापार, जिससे हमारा लेन-देन हो उसका भी कल्याण हो जाय, यह एक प्रकारसे युक्तिसंगत है और यह युक्ति बतलायी जाय तो शायद आपके समझमें भी आ जाय। जैसे मैंने आपके साथ कोई व्यवहार किया और मेरा यह उद्देश्य हुआ कि आपका इसमें हित हो तो ऐसे व्यवहारकी कितनी महिमा गायी जाय।

मनुष्य-जीवनकी अमोलकता

सब माता-बहिनोंको, भाइयोंको यह विचार करना चाहिये कि ईश्वरने हमलोगोंको विवेक यानी बुद्धि दी है, शक्ति दी है तथा मनुष्यका शरीर दिया है। मनुष्य जिस प्रकारसे विचार कर सकता है, कोई भी प्राणी ऐसा विचार नहीं कर सकता। हमलोगोंके भी देखनेमें यह बात आती है। मनुष्य-शरीरकी प्राप्तिकी दुर्लभता शास्त्रने भी बतलायी है—"**नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभम्**"। रामचरितमानसमें लिखा है—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥

मनुष्यका शरीर बड़े ही भाग्यसे मिला है। मनुष्य-शरीरकी प्राप्ति देवताओंको भी दुर्लभ है। सभी शास्त्रोंमें यह बात लिखी है। जितने प्राणी देखनेमें आते हैं उन सबमें यह बात देखी जाती है। सम्पूर्ण प्राणियोंकी अपेक्षा मनुष्यमें बुद्धि, ज्ञान और योग्यताकी सभी बातें अधिक हैं। पशु यह विचार नहीं कर सकता कि मैं कौन हूँ और कहाँसे आया हूँ, वह तो विचारा अपने-आपकी तरफ और दुनियाकी तरफ देख करके चकाचौंधमें पड़ा है। किंतु हमलोग तो मनुष्य हैं। ईश्वरने हमलोगोंको बुद्धि दी है, विवेक दिया है, इससे यह विचार करना चाहिये कि इस मनुष्य-शरीरमें सुख-दुःख भोगनेवाले हमलोग कौन हैं।

हममेंसे कोई भी नहीं चाहता कि हम दुःख भोगें, परंतु विवश होकर हमलोगोंको दुःख भोगना पड़ता है। इतना ही नहीं, हमलोग दुःखका प्रतीकार भी करते हैं, फिर भी दुःख भोगना ही पड़ता है। दुनियामें देखनेमें आता है कि संसारमें हजारोंमें कोई एक भी आदमी ऐसा नहीं मिलेगा जिसे

दुःख न भोगना पड़े, हजारोंमें हजारोंको ही दुःख भोगना पड़ता है।

प्रश्न है—इस दुःखकी निवृत्ति मनुष्य हो करके हम कर सकते हैं या नहीं? यदि कर सकते हैं तो उसका उपाय क्या है और नहीं करते हैं तो कौन-सी योनिमें उपाय करनेकी सुविधा है—देवयोनिमें या पितृयोनिमें जो वहाँ जाकर भगवत्प्राप्तिके लिये उपाय करे? ईश्वर कोई चीज है या नहीं है और है तो वह क्या चीज है? और है तो उसके जाननेकी आवश्यकता है या नहीं और जाननेकी आवश्यकता है तो जाननेसे क्या लाभ होगा और उस ईश्वरके साथमें इस जीवका सम्बन्ध क्या है? उसके साथमें हमारा सम्बन्ध क्या है और यह जो संसार हमें आँखसे दीख रहा है क्या चीज है? जो देखनेमें आनेवाले दृश्यवर्ग हैं ये क्या हैं? और माया बोल करके जो चीज कही जाती है—कोई कहता है माया, कोई कहता है प्रकृति। वह माया और प्रकृति क्या चीज है? और उसके साथमें भी हमलोगोंका क्या सम्बन्ध है? उस प्रकृतिके साथमें ईश्वरकी प्रकृति कही जाती है उस प्रकृतिका स्वरूप क्या है? और ईश्वरका स्वरूप क्या है और जीवका स्वरूप क्या है? और प्रकृति तथा ईश्वरका परस्परमें क्या सम्बन्ध है? ये सब बातें विचारनेकी हैं, क्योंकि ईश्वरने हमलोगोंको ज्ञान दिया है, बुद्धि दी है, विवेक दिया है। यदि किसी पशुको कहें कि तुम्हें इस विषयमें विचार करना चाहिये तो वह तो मूक है, कुछ नहीं कहेगा और समझेगा भी नहीं कि यह क्या कर रहे हैं? या किसी पक्षीको बुला करके यह सब कहेंगे तो उससे भी हमारा कहना बेकार होगा, लोग हँसेंगे, कहेंगे क्या करता है। इसीलिये यह बात केवल मनुष्यके लिये

कही जा सकती है। अब इस विषयमें हमने बहुत-से प्रश्न किये जिनका मैं ही आपलोगोंको उत्तर दे देता हूँ।

यह विचार हमलोग कर रहे हैं। इस संसारमें—इस देहमें सुख-दु:खको भोगनेवाला जो मैं है वह कौन है? इसकी संज्ञा जीव है। अब यह बात आयी कि जीवका स्वरूप कैसा है? इसका स्वरूप तुलसीदासजी बतलाते हैं—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

यह जीवात्मा ईश्वरका अंश है और चेतन है, जड नहीं और अमल है यानी मल-दोषसे रहित है, शुद्ध है और आनन्दकी राशि है। और ईश्वर सच्चिदानन्दघनरूप है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने तुलसीकृत रामायणमें, लक्ष्मणको जहाँ उपदेश दिया है वहाँ यह बात कही है कि "मैं-मेरा" "तू-तेरा" का नाम माया है—"**मैं अरु मोर तोर तैं माया।**" और जो मायाका प्रेरक है वह ईश्वर है तथा वह जीव मायाके वशीभूत है और श्रुति कहती है कि "**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**"। ब्रह्म जो है उसका कैसा स्वरूप है? सत्यस्वरूप है आनन्दमय जो ब्रह्म है उसका स्वरूप कैसा है? सत्य है और नित्य है, चेतन है और अनन्त है ऐसा ब्रह्मका स्वरूप है और जीव उसका ही अंश है। जैसा अंशी होगा वैसा ही अंश होगा। गीता (१५। ७)-में लिखा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है। इस देहके भीतर यह जीव अविनाशी है, नित्य है। इसे सनातन और नित्य बतलाया और जीवात्माको परमात्माका अंश बतलाया, इससे यह ज्ञान हुआ कि परमात्मा अंशी है और जीव उसका अंश है और जीव चेतन है जड़ नहीं है, नित्य है विनाशशील नहीं है।

फिर यह बात आयी कि जब मनुष्य मर जाता है तो इस जीवका विनाश होता-सा दीखता है और आप कहते हैं कि जीव अविनाशी है। हजारों जीव संसारमें रोज मरते हैं तो अविनाशी कैसे हुए? इसमें बात यह है कि जीव मरते नहीं हैं, वे इस स्थूल शरीरको छोड़ करके दूसरे शरीरको पकड़ लेते हैं, भगवान् श्रीकृष्ण गीता (२। २२)-में कहते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

जिस प्रकारसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको छोड़ करके दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण कर लेता है—धारण कर लेता है उसी प्रकारसे यह जीवात्मा पुराने शरीरोंको छोड़ करके दूसरे नये शरीरोंको धारण कर लेता है। वास्तवमें जन्मता-मरता नहीं है। जीवात्माके विषयमें ऐसा बतलाया गया है—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

—यह श्लोक गीताके अध्याय २का २०वाँ है। इसमें यह बात कही गयी है कि आत्मा न तो कभी जन्मता है न कभी मरता है, न हो करके फिर होता है, सदासे ही है। आत्मा अज है, नित्य है, शाश्वत है, पुराण है। इतने विशेषण दिये और शरीरके मरनेपर आत्माका नाश नहीं होता। इससे यह बात सिद्ध हुई कि आत्मा मरता-जन्मता नहीं है। शरीर ही जन्मता-मरता है। यह जो सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीरके

भीतरमेंसे निकलकर दूसरे शरीरमें चला जाता है, इसे ही लोग एक प्रकारसे उसका मरना कहते हैं। आत्मा नित्य है, शरीर नित्य नहीं है। आत्मा चेतन है। चेतनका मतलब क्या है? चेतनका मतलब ऐसे समझिये—जैसे यह झाँझ है। इस झाँझका ज्ञान मनुष्यको तो है कि यह झाँझ है। उसे मनुष्यका ज्ञान नहीं है; क्योंकि झाँझ जड़ है। एक पदार्थ तो जाननेमें आनेवाला है और एक उसे जाननेवाला है। जाननेवाला जो है वह तो है चेतन और जो जाननेमें आनेवाला है, वह है जड़। यह शरीर तो जाननेमें आनेवाली चीज है जैसे यह हाथ है, यह पैर है। इसमें जाननेवाला चेतन है, उसे क्षेत्रज्ञ भी कहते हैं। शरीर जहाँ क्षेत्र है, आत्मा वहाँ क्षेत्रज्ञ है।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥

(गीता १३ । १)

उस परमात्माको जाननेवाले महात्मा पुरुष ऐसा कहते हैं कि शरीरका नाम तो क्षेत्र है और शरीरके भीतरमें रहनेवाला आत्मा क्षेत्रज्ञ है। प्रश्न होता है कि शरीरका नाम क्षेत्र (खेत) क्यों कहा? खेत इसलिये कहा कि जिसमें अन्न पैदा होता है उसे "खेत" कहते हैं और खेतमें कोई चना बोता है तो उसमें चनेके पौधे होते हैं और चना पैदा होता है। आम बोता है तो आम भी पैदा होता है, बबूल बोये तो उसमें बबूल भी पैदा हो जाय। खेतमें जैसा बीज बोया जायगा उसीके अनुसार पौधा होगा। इसी प्रकारसे शरीरको खेत इसलिये कहा कि इस मनुष्य-शरीरमें जैसे संस्कार-रूपसे बीज बोये जाते हैं वैसे ही उसका परिणाम होता है। फिर प्रश्न होता है कि संस्कार-रूपसे बीज बोना क्या है? जैसे खेतमें हल चलाया

जाय और हलके साथ-साथ बीज बोया जाय। इसी प्रकारसे यह बाहरका शरीर हल है। खेत दो प्रकारका होता है—एक तो खेतके ऊपरकी भूमि होती है और एक होती है भीतरकी भूमि। ऊपरकी भूमिमें हल अलग होता है और बीज अलग होता है तो यहाँपर शरीरके भीतरमें ही हल है और हलका चलाना वगैरह है। जैसे बैल हलको खींचता है, यहाँ इन्द्रियाँ ही बैल हैं और शरीर ही हल है। क्षेत्रज्ञके ये सब जितने साधन हैं वे सब इस शरीरमें ही हैं। पुनः शंका होती है कि बीज कहाँ बोया जाता है? उत्तर यह है कि शरीरके अंदर जो अन्तःकरण है उस अन्तःकरणके अंदर संस्कार-रूपसे बीज बोया जाता है। बीज क्या चीज है? किये हुए जो पाप-पुण्य कर्म हैं वे ही बीज हैं। पापका कर्म किया तो पापका बीज बोया गया और पुण्यका कर्म करते हैं तो पुण्यका बीज बोया गया। जो कर्मोंके संस्कार हैं वे ही बीज हैं। कर्म होते हैं इन्द्रियोंके द्वारा, मन-बुद्धिके द्वारा इनके द्वारा होनेवाले जो कर्म हैं वे ही एक प्रकारसे शरीररूपी हल हैं, इसे चलाया जाता है। इन्द्रियाँ इत्यादि इस शरीररूपी खेतके अंदर ही कर्म करती हैं तो यह स्थूल शरीर खेत है, इसके अंदर जो सूक्ष्म शरीर है वह भी खेत है। स्थूल शरीरके द्वारा जो कर्म होते हैं वे सूक्ष्म शरीरमें संस्काररूपसे रहते हैं और बीजके रूपसे उसीका फिर आगे जाकर फल मिलता है और इस शरीरमें जो जाननेवाला है उसका नाम क्षेत्रज्ञ है। शरीर यदि खेत है तो उसको जाननेवाला क्षेत्रज्ञ है। इसलिये जाननेमें आनेवाले जितने पदार्थ हैं वे जड़ हैं। इस वास्ते शरीर और इसमें जो इन्द्रियाँ हैं, मन-बुद्धि हैं ये सब जितने इसके औजार हैं, सब-के-सब जड़ हैं। केवल इसमें जो आत्मा है

वह ज्ञाता पुरुष है, वह चेतन है संसारमें जो जाननेवाला है वह तो चेतन है और जाननेमें जो आता है वह जड़ है। आत्मा जो जीव है वह चेतन है जड़ नहीं; यह जीवका स्वरूप भी बतलाया और इसके साथमें सम्बन्ध भी बतलाया। जीव ईश्वरका अंश है यह सम्बन्ध बतलाया। जैसे लड़का पिताका अंश होता है। ईश्वर हमारा पिता है। और प्रकृति ईश्वरकी शक्ति हैं। ईश्वरकी शक्ति होनेसे वह हमारी माता है। ईश्वर पिता है और प्रकृति-शक्ति मेरी माता है—

माता च कमला देवी पिता देवो जनार्दनः।
बान्धवा विष्णुभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम्॥

कमलादेवी माता हैं। इन्हें चाहे ईश्वरकी शक्ति कहो या लक्ष्मी। और जनार्दन पिता हैं। जनार्दनको भगवान् कहो या विष्णु। भगवान् ईश्वर हैं तो वह ईश्वरी। भगवान् हुए हमारे पिता और वे हुईं हमारी माता। गीतामें भी ऐसी बात है, भगवान्‌ने गीताके चौदहवें अध्यायमें कहा है कि यह जो महत् ब्रह्म है उसका नाम प्रकृति है। प्रकृति गर्भको धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको देनेवाला पिता हूँ। प्रकृति सबकी योनि है और मैं बीजको देनेवाला पिता हूँ। इससे सारे संसारकी उत्पत्ति होती है। इससे यह बात सिद्ध हुई कि सारा संसार प्रजा है, भगवान्‌की संतान है। हम सभी जितने चराचर प्राणी हैं, प्राणधारी हैं, देहधारी हैं—ये सभी भगवान्‌की संतान हुए और भगवान् हुए हमारे पिता तथा उसकी जो प्रकृति-शक्ति है वह हुई हमारी माँ। हमलोग परस्परमें हुए भाई। इसलिये सबको भाई समझना चाहिये। सब कुछ—तीनों लोक परमात्माका है। सभी परमात्माके रचे हुए हैं। परमात्मा ही मालिक है। इस वास्ते तीनों लोक परमात्माका होनेसे और परमात्मा हमारे

पिता हैं इस वास्ते तीनों लोक ही हमारा स्वदेश हो गया। यह नहीं कि भारतवर्ष ही हमारा स्वदेश है बल्कि तीनों लोक ही हमारा स्वदेश है। शंका होती है, मान लो यदि एक आदमी भारतवर्षकी उन्नति करता है और यूरोप, अमेरिका, अफ्रीका आदिकी अवनति हो उसकी अपनेको कोई चिन्ता नहीं? क्योंकि भारतवर्ष ही हमारा स्वदेश है ठीक है यह भी बुद्धि है, किंतु यह एकदेशीय बुद्धि है। जिनका यह भाव है कि अफ्रीका, अमेरिका, यूरोप—ये सब हमारे ही देश हैं, क्योंकि हम सबलोग एक भगवान्‌की संतान हैं और हम सभीके पिता एक ही हैं। उसे चाहे मुसलमान भाई अल्लाह, खुदा कहें, अंग्रेज गॉड कहें, आर्यसमाजी भाई ओम् कहें और सनातनधर्मी श्रीराम, श्रीकृष्ण कहें। उस परमात्माके बहुत-से नाम हैं, किंतु परमात्मा तो एक ही है, अनेक नहीं है। इस वास्ते सारी दुनियामें मनुष्यके ही नहीं बल्कि जितने प्राणी हैं उन सभी जीवमात्रके माता-पिता प्रकृति-पुरुष ही हैं। प्रकृति-पुरुषसे सारे जीवोंकी उत्पत्ति हुई। गीतामें जगह-जगह यह बात बतलायी गयी है। भगवान् कहते हैं कि—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

(४। १३)

चारों प्रकारके जो वर्ण हैं—जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज, और स्वेदज—ये चार प्रकारके आकारवाले चौरासी लाख योनियोंमें जितने प्राणी हैं भगवान् कहते हैं कि उनके पूर्वजन्ममें जैसे गुण और कर्म थे उन गुण और कर्मोंके अनुसार मैंने उनकी रचना की। अब यह विचार करना है कि जो यह समझता है कि यह ही हमारा देश है, इसमें हम पैदा हुए,

इसलिये कह सकते हैं, किंतु इससे यह भाव उच्चकोटिका है कि पृथ्वीमें जितने जो हैं चाहे यूरोप हो, अमेरिका हो, उन सबकी उन्नति हमें करनी चाहिये और आगे बढ़ करके यह विचार करना चाहिये, गीतामें भाँति-भाँतिसे इस विषयमें जगह-जगह कहा है—"**सुहृदं सर्वभूतानाम्**" (५। २९) कि मनुष्यमात्र ही नहीं, जो सारे भूतोंके हितोंमें रत हैं, "**अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्**" (१२। १३) सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित हैं "**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥**" (१२। ४) सारे भूतोंके हितमें रत हैं वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। केवल मनुष्योंके हितमें नहीं बल्कि सारे प्राणियोंके—चर और अचर, स्थावर और जंगम जितने प्राणी हैं उन सबके हितमें रत हैं। गीतामें कहीं भी यह नहीं मिलेगा कि मनुष्योंके वास्ते—मनुष्योंके हितमें जो रत है वही मेरा भक्त है, वही मुक्त है। भूत शब्द प्राणिमात्रका वाचक है। जो इस संसारमें केवल मनुष्योंकी उन्नति ही नहीं बल्कि यावन्मात्र प्राणियोंकी उन्नति चाहता है, सबके हितमें रत है वह और भी श्रेष्ठ है। इससे वह श्रेष्ठ है जो केवल पृथ्वी भरके प्राणियोंकी ही नहीं अपितु, जितने देवता, मुनि, पितर और भूः भुवः स्वः तीनों लोकोंके अंदर जितने प्राणी हैं, जितनी प्रजाएँ हैं, इन सबके हितमें जो रत है वह सबसे श्रेष्ठ है। जो सबकी सेवा करे वही सबसे श्रेष्ठ है। सबकी सेवा मनुष्य ही कर सकता है, जैसे यह हमारा दुपट्टा है। इसके विषयमें यह विचार करना चाहिये—इस चद्दरसे भी हमलोगोंको शिक्षा मिल सकती है। कैसे? इसको देख करके अपनेको क्या बुद्धि पैदा होती है कि यह किस कामकी चीज है? इससे यही बुद्धि पैदा होती है कि यह ओढ़नेकी चीज है, ओढ़नेमें आ सकती है और क्या

कामकी चीज है? यह बिछानेके काममें आ सकती है और क्या काममें आ सकती है? इसका चाहे कोई कुर्ता बनाये चाहे कमीज बनाये। इसका और भी कपड़ा बन सकता है, किंतु सबमें यही बात पैदा होती है कि यह चीज जो है सो ओढ़ने-पहनने और बिछानेकी है। त्वचा-इन्द्रिय, चमड़ी— इनकी रक्षा करनेवाली चीज है। यह अनुभव होता है। मनुष्य अपनी बुद्धिसे विचार करता है। दूसरा प्रश्न यह होता है कि कोई कह दे कि यह खानेकी चीज है तो लोग कहेंगे कि यह मूर्ख है, यह कोई खानेकी चीज है? नहीं। अच्छा, इसमें कोई शब्द सुनायी देता है? कान लगाकर देखते हैं तो यह कर्णेन्द्रियके कामकी चीज नहीं। अच्छा, इसे सूँघो और देखो यह नासिका इन्द्रियकी कामकी चीज है? ना, इसके कामकी भी यह चीज नहीं। केवल एक प्रकारसे त्वचा-इन्द्रियके कामकी चीज है और कोई कामकी चीज नहीं। यह ज्ञान हर एक आदमीको हो ही जाता है। यह चद्दर यह संकेत कर रही है कि जैसे तुमने मेरे विषयमें विचार किया कि इस कामके उपयोगमें यह चीज आती है इसी प्रकार तुम अपने शरीरको भी देखकर खयाल करो कि यह किस कामकी चीज है? खयाल करनेसे यह मालूम देता है कि शरीर ऐसी चीज है कि दुनियामें जितने प्राणी हैं उन सबकी सेवा यह मनुष्य कर सकता है। मनुष्यके सिवा दुनियामें कोई ऐसा नहीं कि जो सबकी सेवा कर सके। इसीलिये सबकी सेवा करनेका भार मनुष्यको शास्त्रोंमें दिया गया है। अत: सबकी सेवा करनी चाहिये। देखो, हमलोग जो भोजन करते हैं उनके विषयमें शास्त्र कहता है कि सब जीवोंको, सब प्राणियोंको, सब भूतोंको भोजन दे करके फिर भोजन करना चाहिये। इसका नाम है

भूतयज्ञ। इसे बलिवैश्व भी कहते हैं। बलिवैश्वका अर्थ क्या होता है? सारे विश्वको बलि देना, सारे विश्वको भोजन देना, इसका नाम है बलिवैश्व यज्ञ। यह महायज्ञ है। अग्निमें जो हम हवन करते हैं, आहुति देते हैं वह तो है यज्ञ और जिसमें समझो कि सब दुनियाको सुख पहुँचे वह है महायज्ञ। हजार आदमियोंको, दो हजार आदमियोंको जो सुख पहुँचाया जाय वह यज्ञ है और सारी दुनियाके सारे प्राणियोंको जो सुख पहुँचाया जाय वह है महायज्ञ! इसका नाम है महायज्ञ। सारी दुनियाको सुख पहुँचाया जाय और सारी दुनियाको अन्न पहुँचा करके भोजन करे उसके लिये कितना अन्न चाहिये? बस एक मुट्ठी। क्या एक मुट्ठी अन्नमें सबको पहुँचाया जा सकेगा? पहुँचाया जा सकता है। इसके लिये भगवान्‌के यहाँ सब प्रबन्ध है। कोई कहे बात समझमें नहीं आती। इसके लिये गीतामें लिखा है—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

(३ । १४)

सारे भूत-प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं—"**अन्नाद्भवन्ति भूतानि**"। तात्पर्य यह कि जिसका जो खाद्य है उसके लिये वही अन्न है, इस वास्ते संसारमें खाद्य पदार्थसे सब जीते हैं, नहीं तो जी नहीं सकते। खाद्य पदार्थकी उत्पत्ति किससे होती है? वर्षासे, पर्जन्यसे, मेघसे। क्योंकि यदि वर्षा न हो तो अन्नकी पैदावार नहीं हो सकती। यदि किसी प्रकार थोड़ा पैदा कर भी लिया तो मामूली, कितने दिनके लिये? १०-१२ वर्ष यदि वर्षा नहीं हो तो मालूम हो जाय। कुँओंका जल भी सूख जाय, प्याससे प्राणी मरने लगे। बिना वर्षाके

काम नहीं चल सकता। वर्षा किससे होती है? वर्षा होती है यज्ञसे। यहाँ यज्ञका मतलब यह नहीं कि हवन करे। इसका मतलब एक प्रकारसे यह है कि जितना उत्तम कर्म है, मनुष्य जितना उत्तम कर्म करता है उसीका नाम यज्ञ है। मनुष्य-यज्ञ, भूत-यज्ञ, देव-यज्ञ, पितृ-यज्ञ, ऋषि-यज्ञ—ये सब यज्ञ हैं, जिसमें पितरोंकी सेवा की जाय वह पितृ-यज्ञ, जिससे मनुष्योंकी सेवा की जाय वह मनुष्य-यज्ञ और प्राणिमात्रकी सेवा की जाय वह भूत-यज्ञ, देवताओंकी सेवा की जाय वह देव-यज्ञ। सब प्रकारका यज्ञ कौन कर सकता है? मनुष्य कर सकता है। मनुष्य सबकी सेवा कर सकता है। अग्निमें रोज पाँच आहुति दी जाती है। उसमें यह मन्त्र बोला जाता है—"**ओम् ब्रह्मणे स्वाहा इदं ब्रह्मणे न मम। ओम् प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये न मम**"। इसका नाम देवयज्ञ हुआ। इसका मतलब क्या है? मतलब यह है कि मैं आहुति ब्रह्मको देता हूँ—परमात्माको देता हूँ। इसके फलका मैं त्याग करता हूँ। मतलब कि इसका फल मैं नहीं चाहता—"**न मम**" दूसरी आहुति प्रजापति ब्रह्माको मैं देता हूँ। इसका फल मुझे नहीं चाहिये। इस प्रकारसे वह अग्निमें आहुति देता है। सब देवताओंको पहुँचाता है। इसके बाद जमीनके ऊपर आहुति देता है, उसका नाम भी बलिवैश्व है। और फिर बचा हुआ भोजन करता है। गीताके तीसरे अध्यायके तेरहवें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

इस प्रकारसे यज्ञ करके बचे हुए अन्नको जो खाते हैं वे महात्मा सब पापोंसे छूट जाते हैं और जो आदमी अपने शरीरके

पोषणके लिये अन्न पकाकर खाता है वह पापी पापको ही पका करके खाता है। इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि मनुष्य जो यज्ञ करता है, आहुति देता है वह आहुति सूर्यको प्राप्त हो जाती है। सूर्यके द्वारा फिर वर्षा होती है और वर्षासे फिर अन्न पैदा होता है और अन्न पैदा होनेसे संसारके सब प्राणी जीते हैं, यावन्मात्रको इस प्रकारसे अन्न पहुँचाया जाता है। ऐसा करना मनुष्यका कर्तव्य है। मनुष्यको नित्यप्रति पंचमहायज्ञ करने चाहिये और भूतोंको जल दे करके जल पीना चाहिये। जल कैसे दिया जाय? जैसे हमारे यहाँ श्राद्ध होता है। उस समय हम तर्पण करते हैं। तर्पणमें प्रथम देवताओंको जल देते हैं, उसके बाद ऋषियोंको, फिर मनुष्योंको, फिर पितरोंको, फिर यावन्मात्र भूत-प्राणियोंको। उससे उन सबको जल पहुँच जाता है। सबको जल कैसे पहुँचता है? वह जल मन्त्रोंसे दिया जाता है वह सूर्यको प्राप्त हो जाता है। और सूर्यके द्वारा सारे संसारमें वर्षा हो करके वह जल सबको पहुँच जाता है। कितना उच्चकोटिका यह भाव है कि हम यावन्मात्रको, प्राणिमात्रको अन्न दे करके भोजन करें। प्राणिमात्रको जल दे करके जल पीयें। यह भाव कितने ऊँचे दर्जेका है। इसी प्रकारसे जो तीनों लोकोंमें प्राणिमात्रकी—सबकी सेवा करनेका भाव रखता है वह बड़ा उच्चकोटिका भाव है। हमारे ऋषि-मुनियोंका जो सिद्धान्त था वह बड़ा उच्चकोटिका सिद्धान्त था, एकदेशीय नहीं था कि मनुष्यमात्रकी ही सेवा करनी चाहिये। यह एकदेशीय दृष्टि नहीं कि भारतवर्षवालोंकी ही सेवा करनी चाहिये। उनका तो यह सिद्धान्त रहता है कि यावन्मात्रकी—प्राणिमात्रकी सेवा करनेसे आत्माका कल्याण होता है। सारे भूतोंके हितमें किस प्रकारसे रत हो? इसके लिये भगवान्‌ने गीता (६। ३२)-में बतलाया

है—अपनी आत्माकी उपमाके समान सबके साथ जो सुख-दुःखमें सम है वह मेरे मतमें परम योगी है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

इससे अपने कर्तव्यका भी थोड़ा ज्ञान हुआ। और यह भी ज्ञान हुआ कि परमात्माका अंश यह जीव है और यह भी मालूम हुआ कि प्रकृति और परमात्माके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है। प्रकृति-पुरुष तो अपने माता-पिता हैं और हम उसके अंश हैं, यह मालूम हुआ। ठीक है तो प्रकृतिके साथमें सम्बन्ध है यह भी मालूम हो गया और परमात्माके साथ सम्बन्ध है यह भी मालूम हो गया। अब प्रकृति और पुरुष-परमात्माका क्या सम्बन्ध है?—ईश्वर और प्रकृतिका सम्बन्ध पति-पत्नी-जैसा है। प्रकृति ईश्वरकी शक्ति है। ईश्वरकी शक्ति समझो या प्रकृति समझो। भगवान् जब विष्णुके रूपमें प्रकट होते हैं तो वह शक्ति या प्रकृति लक्ष्मीके रूपमें प्रकट होती हैं। जब भगवान् शिवके रूपमें प्रकट होते हैं तो उनकी प्रकृति पार्वतीके रूपमें प्रकट होती है। और भगवान् जब ब्रह्माजीके रूपमें प्रकट होते हैं तो वह सरस्वतीके रूपमें प्रकट होती है, इस तरहसे वेदोंमें यह सब बात बतलायी गयी है। इस प्रकारसे दो-दो रूपसे यानी जोड़े-रूपसे भगवान् प्रकट हो करके प्रजाकी रचना करते हैं और फिर प्रजाकी वृद्धि होती है, तो इस प्रकारसे यह बात सिद्ध हो गयी कि भगवान् शक्तिमान् हैं और माया उनकी शक्ति। शक्तिमान् और शक्तिका सम्बन्ध है और हमारे माता-पिताके सम्बन्धमें प्रकृति तथा पुरुषका सम्बन्ध हुआ जीवके नाते हम सब भाई हैं। अब अपनेको करना क्या चाहिये? यह करना चाहिये कि माता-

पिताको, भाइयोंको—सबको सुख पहुँचाना चाहिये। सबको सुख कैसे पहुँचे? माता-पिताकी आज्ञाका हम पालन करें तो उन्हें सुख पहुँचे। कर्म करनेके समय हम माता-पिताके लिये कर्म करें बच्चेका धर्म है कि माता-पिता-रूपी ईश्वरके लिये कर्म करे। ईश्वरको प्रसन्न होनेके लिये कर्म करे। जिस कर्मसे भगवान् खुश हों वही कर्म करे। भगवान् किस कर्मके करनेसे खुश होते हैं? इसके लिये गीतामें भगवान्ने जो आदेश दिया है, उपदेश दिया है उनको समझकर उसका पालन करें—समझें कि यह अपने भगवान्का आदेश है और उसका हम पालन करें। गीताके अनुसार अपना जीवन बनायें यह हमारे लिये कर्म है। यह विचार करना चाहिये कि माता-पिताकी सेवा और प्राणिमात्रकी सेवा, जिस प्रकार प्राणिमात्रको सुख पहुँचे वह अपना ध्येय बना लेना चाहिये। किस प्रकारसे प्राणिमात्रको सुख पहुँचे, ऐसा ध्येय इस प्रकार बना लेना चाहिये—अपना जो सत्त्व है, अपना जो फर्ज है, अपना जो तन है, मन है, धन है, जन है, जो कुछ अपने अधिकारमें है सब प्राणिमात्रकी सेवाके लिये है अपने एक व्यष्टि शरीरके पोषणके लिये नहीं। ईश्वरने हमलोगोंको जो कुछ अधिकार दिया है वह किसलिये? सबकी सेवा करनेके लिये। किसी भाईके पासमें रुपया है, शरीर है, बल है, बुद्धि है और उसके बाल-बच्चे हैं यानी जो कुछ चीज है, ऐश्वर्य है, सारी-की-सारी सामग्री जो है वह भगवान्ने हमारे अधिकारमें क्यों दी है? इसीके द्वारा सबकी सेवा करनेके लिये दी है।

किंतु जो मनुष्य सबकी सेवाकी चीजको सबको न देकर केवल अपने-आप ही उसका भोग करता है वह चोर है, डाकू है। इसलिये हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि जो

कुछ हमारे हाथमें चीज है वह सब जनताकी सेवाके लिये है। सबकी सेवा करना—यह हमारा परमधर्म है, इससे माता-पिता खुश होते हैं। जो अपने भाइयोंकी सेवा करता है उससे माता-पिता खुश होते हैं, कहते हैं कि देखो, यह नेकनामी भाई है, जो भाई-बहनोंकी—सबकी सेवा करता है, सबको सुख पहुँचाता है, सबके हितमें रत है, माँ-बाप उसपर खुश होते हैं। भगवान् हमारे पिता हैं उनकी आज्ञाका हम पालन करें यह हमारा कर्तव्य है। यही उच्चकोटिकी भक्ति है। गीता देखो, रामायण देखो—कहीं भी देखो। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने प्रजाके लिये उपदेश दिया—

सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहउँ न कछु ममता उर आनी॥
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई॥

(रा०च०मा० ७। ४३। ३-४)

भगवान् श्रीराम एक समय अपनी प्रजाको बुलाकर उपदेश दे रहे हैं। हे सकल पुरके वासीजनो! मेरी वाणी सुनो। मनमें कुछ ममता करके या अहंता करके मैं नहीं कहता हूँ, अभिमान करके नहीं। अनीतिकी बात नहीं कहूँगा—कानूनके बाहर, न्यायके बाहर नहीं कहूँगा और न कोई प्रभुताकी बात कहूँगा कि मैं ईश्वर हूँ या राजा हूँ और मेरा हुकुम आपको मानना चाहिये। मेरी बातको सुनो और सुन करके जो तुम्हें सुहानी लगे, आपको अनुकूल मालूम दे तो उसका पालन करो—और कहते हैं कि भाई! कोई कहनेमें मैं अनीतिकी बात कह डालूँ तो आप निर्भय होकर भयका त्याग करके मुझको मना कर दें। कोई भयकी बात नहीं है—

जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥

किस प्रकारसे परामर्शके रूपमें, मित्रताके रूपमें भगवान्

उपदेश दे रहे हैं—वही मेरा सेवक, वही मेरा प्यारा है कि जो मेरे शासनको माने। मेरे हुकुमको जो माने वही मेरा प्यारा है—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥

(रा०च०मा० ७। ४३। ५)

इससे यह बात सिद्ध हुई कि वही सेवक है, वही प्यारा है। इस जगह सेवा क्या हुई कि हुकुमका पालन करना। हुकुमके पालन करनेका नाम है सेवा और धातुसे खयाल करके देखें कि "**भज् सेवायाम्**" धातु है वह सेवाके अर्थमें है। भगवान्‌का भजन क्या है? भगवान्‌की सेवा करना क्या है? भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना, यह बात सिद्ध होती है।

गीतामें भी अर्जुनको उपदेश दे करके भगवान्‌ने पूछा कि हे अर्जुन! तेरा मोह नाश हुआ कि नहीं? तुम्हें स्मृति आयी कि नहीं आयी। समझ आयी कि नहीं? तो अर्जुनने कहा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

(१८। ७३)

महाराज! आपका उपदेश सुनते-सुनते अब मेरा मोह नष्ट हो गया और स्मृतिको प्राप्त हो गया हूँ—अब होश ठीक है। स्मरण-शक्ति मेरी बहुत ठीक है, आपने जितनी बातें कहीं सब आपकी कृपासे मुझे याद है—"**त्वत्प्रसादात्**" हे अच्युत! यह कोई मेरी सामर्थ्य नहीं है, कोई मेरा प्रभाव नहीं है यह तो आपकी कृपाका प्रभाव है मेरेको यह शंका नहीं रही। क्या निश्चय किया? यही निश्चय किया कि "मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।" बस, इतना ही यह उपदेश लिया कि आपकी आज्ञाका पालन करूँगा। अब विचार करके देखो, अपना कर्तव्य क्या हुआ। अर्जुनको इतना उपदेश दिया। आखिरमें इतनेमें ही

काम खतम हो गया। उसके बादमें भगवान्‌ने उपदेश नहीं दिया। भगवान् समझ गये कि अब अर्जुनने इस बातको स्वीकार कर लिया—यही असली शरणागति है कि बस आप जैसा कहेंगे वैसा करूँगा, बैठाओ तो बैठूँ और उठाओ तो उठूँ। भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना—यह हमारा कर्तव्य है। भगवान्‌की आज्ञा क्या है? गीतामें जो कुछ कहा है उसके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये यह अपना कर्तव्य है। अपने इस कर्तव्यके पालन करनेमें जो हम विलम्ब कर रहे हैं यह हमारी गलती है। हमको वह काम करना चाहिये जिस कामके लिये हम आये हैं। क्यों आये हैं? अपनी आत्माका सुधार और उद्धार करनेके लिये। सुधार और उद्धार कैसे होगा? साधनसे। क्या साधन करे? गीतामें भगवान्‌ने जो साधन बतलाया है वह साधन करे। उन साधनोंमें क्या साधन बतलाया है? उन साधनोंमें एक साधन यह बतलाया है कि सब यावन्मात्र—जो प्राणी हैं उनकी सेवा करना—सेवा-रूप कर्म करना। किस प्रकारसे? निष्कामभावसे, आसक्तिको त्याग करके, स्वार्थको त्याग करके, अहंकारको त्याग करके। भगवान्‌का कहना है—जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्याग करके और अहंता-ममताको त्याग करके, स्पृहाको त्याग करके संसारमें विचरता है वह शान्तिको प्राप्त होता है—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(२। ७१)

तथा—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥

(५। ११)

योगी लोग यानी कर्मयोगी कायाद्वारा यानी शरीरसे, मनके द्वारा, बुद्धिके द्वारा तथा इन्द्रियोंके द्वारा आसक्तिको त्याग करके आत्माकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं। उससे आत्माकी शुद्धि होती है। आत्माकी शुद्धि होनेसे परमात्माका ज्ञान होता है और परमात्माका ज्ञान होनेसे उसकी मुक्ति होती है। यह बात आपको बतलायी। इसका नाम कर्मयोग है। जो आदमी संसारके कल्याणके लिये कर्म करे, संसारके हितके लिये कर्म करे, सेवा-भावसे करे, जिसमें अहंकार नहीं आये कि "मैंने कर्म किये' वही उत्तम कर्म है, इसीका नाम कर्म है। इसके विषयमें भगवान् और कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(२। ४७)

अर्जुन! तेरा कर्म करनेमें अधिकार है, फलमें अधिकार नहीं। इसलिये कर्मके फलका हेतु भी तू मत बन। कर्मके फलका हेतु क्या? कर्मके फलके हेतुका मतलब यह है कि कर्म करके भी यह अभिमान रहे कि "यह कर्म मैंने किया।" यदि कर्तापनका अभिमान रहे तो वह कर्मके फलका हेतु बन गया। उसको कर्मका फल मिलेगा, कर्मोंमें आसक्त होकर यदि कर्म किया है तो भी उसको कर्मका फल मिलेगा। कर्मोंके भीतर जो आसक्ति है, ममता है, वासना है, अहंता है, कर्तापनेका अभिमान है, यह सब हेतु है। भगवान् कहते हैं कि कर्मके फलका हेतु भी तू मत बन, तू ऐसा समझ कि मैं तो निमित्तमात्र हूँ, मुझको भगवान् निमित्त बना करके जैसे करवाते हैं मैं वह कर रहा हूँ। इस प्रकारसे भगवान् कहते हैं कि जो कुछ भी तू कर्म करे वह एक प्रकारसे मेरे लिये

कर या मेरेमें अर्पण करके कर, इससे मेरे अर्थ कर्म करता हुआ भी सिद्धिको प्राप्त हो जायगा—

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥

(१२। १०)

मदर्थ क्या? भगवान्‌के लिये। भगवान्‌में हमारा प्रेम हो इसलिये, भगवान् खुश हों इसलिये, भगवान्‌की प्राप्ति हो इसलिये, यह सब भगवदर्थ है। भगवान्‌में समर्पण करना क्या? समर्पण करना यही है कि कर्म करके फिर उसका फल नहीं चाहना–

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(९। २७)

भगवान् कहते हैं—हे कौन्तेय! तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ यज्ञ करता है, दान देता है, तप करता है सबको मेरे समर्पण कर दे। उसको तू अपने अधिकारमें मत ला। बस यह समझ कि भगवान् ही जैसी प्रेरणा करते हैं वैसा मैं करता हूँ, भगवान् ही करवाते हैं। भगवान्‌के ही कर्म हैं, भगवान्‌का ही संसार है, मैं भी भगवान्‌का हूँ। जैसे एक गुरु बच्चेसे क ख ग घ लिखाता है और अपना हाथ रख करके उसके ऊपर उसकी कलम पकड़कर "क", "ख" ऐसा लिखाता है तो उसमें भूल नहीं आती। लड़का यदि स्वतन्त्र होकर लिखता है तो कहीं भूल भी आ जाती है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि जैसे लड़का गुरुकी शरण होता है, वैसे ही मेरी शरण होकर मैं जैसा कर्म करवाऊँ वैसा कर। यह एक प्रकारसे मेरे समर्पण है। इससे क्या होगा? इससे यह होगा कि शुभ और अशुभ कर्मोंके फलके बन्धनसे

है, क्रय-विक्रय करता है तो उसका एक लक्ष्य रहता है रुपया कैसे मिले? खरीदनेके समय, बेचनेके समय, तौल-मोल करते समय सब प्रकारमें रुपया कैसे मिले? वह रुपयेका सच्चा भक्त है। वह क्यों करता है व्यापार? रुपयोंके लिये। वह रुपयोंका दास है, अर्थका दास है। भगवान्‌का जो दास है वह क्यों करता है? भगवान्‌के लिये। उसके वहाँ जैसे अर्थ है इसके यहाँ भगवान्। "**मत्कर्मकृत्**" भगवान् क्या है? जगत् ही जनार्दन है, यह विश्व ही भगवान्‌का स्वरूप है। अर्जुनने कहा कि आप विश्वरूप दिखलाइये। भगवान्‌ने विश्वरूप तुरंत दिखलाया। विश्वकी सेवा करना ही भगवान्‌की सेवा है। इसी वास्ते उस यज्ञका नाम बलिवैश्व यज्ञ है, यह महायज्ञ है इस प्रकारसे "**मत्कर्मकृत्**"—और "**मत्परम**" यानी मेरी शरण आ जा और मेरे परायण हो जा, मैं सुख या दुःख जो कुछ भी करूँ उसके कर्मोंके अनुसार जो कुछ उसको फल पहुँचाऊँ बस हँसता-हँसता उसको जो स्वीकार करे वह मेरी शरण है। और "**मद्भक्त**" का मतलब है मेरेमें भक्ति करनेवाला, प्रेम करनेवाला। कैसा उसका प्रेम है? मुझमें ऐसा प्रेम है कि मुझको कभी भूलता ही नहीं। कर्म करनेके समय उसकी स्मृति रहती है कि यह संसार किसका? भगवान्‌का। यह कर्म क्यों करता है, भगवान्‌के लिये। मैं कौन हूँ? भगवान्‌का। यह जगत् किसका है? भगवान्‌का। यह उच्चकोटिका भाव है। यदि इस चद्दरसे शरणागतिका विषय भी हम पूछें तो हमको मालूम हो सकता है। कैसे? चद्दर तो बोलती नहीं? किन्तु संकेत तो करती है न? यह चद्दर एक प्रकारसे कहती है कि मेरा जो मालिक है—मैं जिस प्रकारसे उसकी शरण हूँ, जिस प्रकारसे उसकी सेवा करती हूँ, इसी प्रकारसे अपने

मालिककी शरण होकर जो सेवा करना है यही तो शरणागति है और यही भक्ति है। इस चद्दरको मैं उठाकर मस्तकपर रख लूँ तो यह चद्दर नहीं कहती कि मैं तो आपकी सेविका हूँ, मुझे आपने अपने मस्तकपर क्यों रखा? और मैं उसे अपने चरणोंपर रख लूँ तो भी यह नहीं कहती कि चरणोंपर क्यों रखा? मालिककी मर्जी! चरणोंमें रखे चाहे मस्तकपर और मैं इसे फाड़ डालूँ तो भी यह कुछ नहीं कहती, कोई उसका उत्तर नहीं देती, भले ही फाड़ डालो। यदि मैं आगमें झोंक दूँ तो भी कोई बात नहीं, चाहे आगमें झोंक दो। जैसे चद्दर अपना सर्वस्व मेरे अर्पण कर हमें सिखलाती है कि जैसे मैं अपने मालिककी शरण हूँ ऐसे परमात्माके प्रति अपना सर्वस्व समर्पण कर देना—यह भगवान्‌की भक्ति है। इस प्रकारसे भक्ति करनेसे बेड़ा पार हो जाता है।

हमलोग कौन हैं? उत्तर मिल गया—हमलोग जीव प्राणी हैं। हमलोग कहाँसे आये हैं? यह बतलाया जाता है। हमलोग ८४ लाख योनियोंमें भ्रमण करते-करते ईश्वरकी कृपासे मनुष्यके शरीरमें आये हैं।—तुलसीदासजी कहते हैं—

आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभ बासी॥

(रा०च०मा० १। ८। १)

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥

(रा०च०मा० ७। ४१। ४)

चौरासी लाख योनियोंमें मुख्य चार खान हैं— आकर हैं—जरायुज, अण्डज, उद्‌भिज्ज, स्वेदज—ये चार प्रकारकी मुख्य योनियाँ हैं, जेर-झिल्लीके साथमें जो पैदा हो, जैसे मनुष्य और पशु आदि जरायुज हैं, जो अंडेसे पैदा हो, जैसे पक्षी चींटी आदि ये अंडज हैं, जो जमीनसे पैदा हों, जैसे गुल्म,

लता, वृक्ष, दीमक आदि उद्भिज्ज हैं और जो पसीनेसे पैदा हों वे स्वेदज हैं। इस प्रकारसे चार प्रकारकी खानें हैं जीवोंकी। ८४ लाख उनकी जातियाँ हैं। ये मायासे इस संसारमें घूमते-फिर रहे हैं। गीतामें भी यह बात कही है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(१८। ६१)

ईश्वर जो परमात्मा है वह सबके हृदयमें स्थित हुआ शरीररूपी यन्त्रपर आरूढ़ सारे प्राणियोंको अपनी मायाके द्वारा उनके कर्मोंके अनुसार भरमाता है। फिर आगे कहते हैं—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

८४ लाख योनियोंमें जीव भटकता फिरता है और तंग आ जाता है महान् दुःखी हो जाता है तो दयालु भगवान्‌को दया आ जाती है और वे उसको मौका देते हैं। भगवान् इसको मनुष्यका शरीर देते हैं। इस प्रकार भगवान्‌ने हमें मनुष्यका शरीर देकर कल्याण करनेका सुदुर्लभ अवसर दिया है जिससे हमें यथा शीघ्र लाभ उठाना चाहिये।